A R

...में यदि कभी किसी अविनाशी ग्रन्थ की रचना हुई है, तो वह यह है



नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स



धर्म चक्र प्रवर्तन

धम्मपदं

[मूल पालि और हिन्दी अनुवाद]



अनुवादक

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

फरवरी १९४६ }

बुद्धाब्द २४९०

{ मूल्य २॥)

प्रकाशक—
गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम०,
अध्यक्ष हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स,
शाहगंज, इलाहाबाद।

तृतीयावृत्ति

मुद्रक—
गयाप्रसाद तिवारी, बी. काम.,
अध्यक्ष नारायण प्रेस, नारायण बिल्डिंग्स,
शाहगंज, इलाहाबाद।

तीसरी बार

युद्ध के समय आदमी के जीवन के अतिरिक्त सभी कुछ तो महँगा था। कागज के अभाव में धम्मपद का यह अनुवाद बहुत दिनों से अप्राप्य रहा। श्री० गयाप्रसाद जी तिवारी बी० काम० के पुरुषार्थ से यह तीसरी बार छप रहा है। बाह्यरूप और आकार-प्रकार में इतना अन्तर हो गया है कि अब इसे नया संस्करण न कहकर नयी कृति भी कहा जा सकता है।

भाई संघरत्न जी, सहायक मन्त्री, महाबोधी सभा, सारनाथ ने इसे उदारतापूर्वक छापने की आज्ञा दे दी है—जिसके लिये कृतज्ञ हूँ।

सत्यनारायण कुटीर,
हि० सा० सम्मेलन
१०—२—४६

आनन्द कौसल्यायन

दो शब्द

एक पुस्तक को और केवल एक पुस्तक को जीवन भर साथी बनाने की यदि कभी आपकी इच्छा हुई है तो विश्व के पुस्तकालय में आपको **धम्मपद** से बढ़कर दूसरी पुस्तक मिलनी कठिन है।

जिस प्रकार महाभारत में भगवद्गीता एक छोटी किन्तु अमूल्य कृति है, उसी प्रकार त्रिपिटक में **धम्मपद** एक छोटा किन्तु मूल्यवान् रत्न है। काल की दृष्टि से भगवद्गीता की अपेक्षा धम्मपद प्राचीनतर है।

भगवद्गीता की विशेषता है, कई दार्शनिक विचारों के समन्वय का प्रयत्न; इसीलिए गीता के टीकाकारों में आपस में मतभेद है; लेकिन धम्मपद एक ही मार्ग है, एक ही शिक्षा है। उस पथ के पथिक का आदर्श निश्चित है।

यह बात शायद सार्थक है कि गीता की अपेक्षा प्राचीनतर होते हुए भी धम्मपद की केवल एक टीका—**धम्मपद-अट्ठकथा** उपलब्ध है, और भगवद्गीता की हैं जितने पण्डित उतनी भिन्न-भिन्न टीकाएँ।

भगवद्गीता की तरह **धम्मपद** का बड़ा प्रचार है। प्राचीन काल में चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं। वर्तमान काल में संसार की सभी सभ्य भाषाओं में—अँगरेज़ी, जर्मन, फ्रैंच आदि में—कई कई अनुवाद हो चुके हैं। श्री० अल्बर्ट, जे० एडमन्ड अपने अँगरेजी अनुवाद की भूमिका में लिखते हैं:—

"यदि एशिया-खण्ड में कभी किसी अविनाशी ग्रन्थ की रचना हुई, तो वह यह है।

"इन पदों ने अनेक विचारकों के हृदय में चिन्तन की आग जलाई है। इन्हीं से अनुप्राणित होकर अनेक चीनी यात्री मङ्गोलिया के

भयानक कान्तार और हिमालय की अलंघ्य चोटियाँ लाँघकर भगवान् बुद्ध के चरणों से पूत भारतभूमि के दर्शनार्थ आए। इन्हीं को महाराज अशोक ने—जिन्होंने प्राणदण्ड का निषेध किया, गुलामी की प्रथा को कम किया, मनुष्यों और जानवरों तक के लिए अस्पताल खोले—शिलालेखों पर अंकित कराया। आज दो हजार वर्ष से रोम और ईसाइयत की संस्कृति के प्रचार होते रहने पर भी, यूरोप और अमरीका के सभी विद्या-मन्दिरों में—कोपेनहेगन से कैम्ब्रिज तक और शिकागो से सेंटपीटर्सबर्ग (लेनिनग्राड) तक—यह यूरोपियन और अमरीकन लोगों द्वारा श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं।"

बँगला, मराठी, गुजराती आदि भारत की अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में भी एक से अधिक अनुवाद हैं। निम्नलिखित छः अनुवादों का हमें ज्ञान है :—

१. श्री सूर्यकुमार वर्मा, हिन्दी (१६०४)
२. भदन्त चन्द्रमणि महास्थविर, हिन्दी और पालि (१६०६ ई०)
३. स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, हिन्दी (बुद्ध-गीता)
४. श्री विष्णुनारायण, हिन्दी, (सं० १६८५)
५. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय पालि-हिन्दी (१६३२)
६. त्रिपिटकाचार्य्य राहुल सांकृत्यायन (१६३३) (पालि, संस्कृत, हिन्दी)

छः छः अनुवादों के बाद यह सातवाँ अनुवाद! प्रत्येक भक्त की अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने की इच्छा के सिवाय, इसे क्या कहें! और यों कहने को कह सकते हैं कि अभी तक जितने अनुवाद निकले उनमें कोई ऐसा नहीं जो धम्मपद-प्रेमियों का हर समय का साथी बन सके—रेल में, गाड़ी में, हर समय उनकी जेब में रह सके। अँगरेज़ी में बम्बई की बुद्ध-सोसाइटी की ओर से प्रकाशित, मूल पालि सहित, प्रो० एन० के० भागवत का किया हुआ एक बहुत ही सुन्दर अनुवाद कुछ समय से हमारे सामने था। उसी से इस हिन्दी अनुवाद की

प्रेरणा मिली और सौभाग्य से इसे करने के लिए गोरखपुर के श्रीमहावीरप्रसादजी 'पोद्दार' का आतिथ्य भी एक ऐसा सुयोग्य मिल गया, जो ऐसे एकाग्रता-अपेक्षित कार्य्य के लिए आवश्यक था। उन्हीं के बाग में रहकर उन्हीं के यहाँ हाथ के बने हुए काग़ज़ पर अथ से इति तक सारा धम्मपद लिखा गया। इस प्रकार इस पुण्य-कार्य में उनका बड़ा हाथ रहा है।

धम्मपद के अनुवाद में मैंने शब्दानुवाद के आग्रह को एक प्रकार से बिल्कुल छोड़े रक्खा। यही कोशिश रही कि अनुवाद-मात्र पढ़नेवाले को अनुवाद अनुवाद प्रतीत न हो। पता नहीं, कहाँ तक सफल हुआ।

लेकिन मूल की रस्सी से भी मैं बँधा ही रहा। अनुवाद परम्परागत अर्थों को दृष्टि में रखकर ही किया। हाँ, एक दो जगह किसी किसी गाथा का अर्थ वैसा भी हो गया है जैसा वह अपने जीवन में भासित हुआ।

भाई धर्म्मरत्न ने पुस्तक को दोहराने, प्रूफ देखने आदि में खूब सहायता की। उनकी पैनी आँख के बिना कुछ न कुछ अशुद्धियाँ ज़रूर रह जातीं। अब जो अशुद्धियाँ, पाठक देखें उनके लिए उत्तरदायी मैं ही हूँ।

पारिभाषिक शब्दों से बचे रहने का प्रयत्न करने पर भी कुछ न कुछ शब्द आ ही गए। ऐसे शब्दों को अन्त में टिप्पणी सहित दे दिया है।

अनुवाद में जिन जिन ग्रन्थों और जिन जिन मित्रों से सहायता मिली उन सभी का मैं कितना कृतज्ञ हूँ, उसे लिखकर कैसे प्रकट करूँ ?

मूलगन्धकुटी विहार,
सारनाथ,
२४—५—३८

आनन्द कौसल्यायन

विषय-सूची

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

धम्मपदं

१—यमकवग्गो

(१)

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ।
ततो 'नं दुक्खमन्वेति चक्कं'व वहतो पदं ॥१॥

सभी धर्म (=अवस्थायें) पहले मन में उत्पन्न होते हैं, मन ही मुख्य है, वे मनोमय हैं। जब आदमी मलिन मन से बोलता वा कार्य्य करता है, तब दुःख उसके पीछे वैसे ही हो लेता है, जैसे (गाड़ी के) पहिये बैल के पैरों के पीछे पीछे।

(२)

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा ।
ततो' नं सुखमन्वेति छाया' व अनापयिनी ॥२॥

सभी धर्म (=अवस्थायें) पहले मन में उत्पन्न होते हैं, मन ही मुख्य है, वे मनोमय हैं जब आदमी स्वच्छ मन से बोलता वा कार्य्य करता है, तब सुख उसके पीछे वैसे ही हो लेता है, जैसे कभी साथ न छोड़ने वाली छाया आदमी के पीछे पीछे।

(३)

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ॥३॥

'मुझे गाली दी', 'मुझे मारा', 'मुझे हराया', 'मुझे लूट लिया', जो ऐसी बातें सोचते रहते हैं उनका वैर कभी शान्त नहीं होता ।

(४)

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥४॥

'मुझे गाली दी', 'मुझे मारा', 'मुझे हराया', 'मुझे लूट लिया', जो ऐसी बातें नहीं सोचते, उन्हीं का वैर शान्त हो जाता है ।

(५)

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥५॥

वैर, वैर से कभी शान्त नहीं होता; अवैर से ही वैर शान्त होता है—यही संसार का सनातन नियम है ।

(६)

परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे ।
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा ॥६॥

अज्ञ लोग नहीं विचारते कि हम इस संसार में नहीं रहेंगे; जो विचारते हैं उन (पण्डितों) का वैर शान्त हो जाता है ।

(७)

सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं ।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं कुसीतं हीनवीरियं ।
तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं 'व दुब्बलं ॥७॥

जो काम-भोग के जीवन में रत है, जिसकी इन्द्रियाँ उस के काबू में नहीं हैं, जिसे भोजन की उचित मात्रा का ज्ञान नहीं है, जो आलसी है, जो उद्योगहीन है, उसे मार वैसे गिरा देता है जैसे वायु दुर्बल वृक्ष को।

(८)

असुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो वातो सेलं 'व पब्बतं ॥८॥

जो काम-भोग के जीवन में रत नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ उसके काबू में हैं, जिसे भोजन की उचित मात्रा का ज्ञान है, जो श्रद्धावान् तथा उद्योगी है, उसे मार वैसे नहीं हिला सकता जैसे वायु शिलामय पर्वत को।

(९)

अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहेस्सति।
अपेतो दमसच्चेन न सो कासावमरहति ॥९॥

जो अपने मन को स्वच्छ किए बिना काषाय-वस्त्र को धारण करता है, सत्य और संयम से रहित वह व्यक्ति काषाय-वस्त्र का अधिकारी नहीं है।

(१०)

यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति ॥१०॥

जिसने अपने मन के मैल को दूर कर दिया है, जो सदाचारी है, सत्य और संयम से युक्त वह व्यक्ति ही काषाय-वस्त्र का अधिकारी है।

(११)

असारे सारमतिनो सारे चासारदस्सिनो ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासङ्कप्पगोचरा ॥११॥

असार (—वस्तु) को सार और सार (—वस्तु) को असार समझनेवाले, झूठे संकल्पों में संलग्न मनुष्य सार (—वस्तु) को नहीं प्राप्त करते ।

(१२)

सारञ्च सारतो ञत्वा असारञ्च असारतो ।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्मासङ्कप्पगोचरा ॥१२॥

सार (—वस्तु) को सार और असार (—वस्तु) को असार समझनेवाले, सच्चे संकल्पों में संलग्न मनुष्य सार (—वस्तु) को प्राप्त करते हैं ।

(१३)

यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति ।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥१३॥

यदि घर की छत ठीक न हो, तो जिस प्रकार उस में वर्षा का प्रवेश हो जाता है, उसी प्रकार यदि (संयम का) अभ्यास न हो, तो मन में राग प्रविष्ट हो जाता है ।

(१४)

यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठी न समतिविज्झति ।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समितिविज्झति ॥१४॥

यदि घर की छत ठीक हो, तो जिस प्रकार उसमें वर्षा का प्रवेश नहीं होता, उसी प्रकार यदि (संयम का) अभ्यास हो तो मन में राग प्रविष्ट नहीं होता ।

(१५)

इध सोचति पेच्च सोचति
पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति
दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥१५॥

पापी मनुष्य दोनों जगह शोक करता है—यहाँ भी और परलोक में भी। अपने दुष्ट कर्म को देखकर वह शोक करता है, पीड़ित होता है।

(१६)

इध मोदति पेच्च मोदति
कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति
दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥१६॥

शुभ कर्म करने वाला मनुष्य दोनों जगह प्रसन्न रहता है—यहाँ भी और परलोक में भी। अपने शुभ कर्म को देखकर वह मुदित होता है, प्रमुदित होता है।

(१७)

इध तप्पति पेच्च तप्पति
पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कतन्ति तप्पति
भीय्यो तप्पति दुग्गतिङ्गतो ॥१७॥

पापी मनुष्य दोनों जगह संतप्त होता है, यहाँ भी और परलोक में भी। 'मैंने पाप किया है' सोच सन्तप्त होता है, दुर्गति को प्राप्त हो और भी सन्तप्त होता है।

(१८)

इध नन्दति पेच्च नन्दति
कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।
पुञ्ञं मे कतन्ति नन्दति
भीय्यो नन्दति सुग्गतिंगतो ॥१८॥

शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य दोनों जगह आनन्दित होता है—यहाँ भी और परलोक में भी। 'मैंने शुभ-कर्म किया है' सोच आनन्दित होता है, सुगति को प्राप्त हो और भी आनन्दित होता है।

(१६)

वहुंपि चे सहितं भासमनो
न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो 'व गावो गणयं परेसं
न भागवा सामञ्ञस्स होति ॥१६॥

धर्म-ग्रन्थों का कितना ही पाठ करे, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उन धर्म-ग्रन्थों के अनुसार आचरण नहीं करता, तो दूसरों की गौवें गिनने वाले ग्वालों की तरह वह श्रमणत्व का भागी नहीं होता।

(२०)

अप्पम्पि चे सहितं भासमानो
धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं
सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।

अनुपादियानो इध वा हुरं वा
स भागवा सामञ्ञस्स होति ॥२०॥

धर्म-ग्रन्थों को चाहे थोड़ा ही पाठ करे, लेकिन यदि राग, द्वेष तथा मोह से रहित, कोई व्यक्ति धर्म के अनुसार आचरण करता है तो ऐसा बुद्धिमान्, अनासक्त, यहाँ वहाँ (दोनों जगह) भोगों के पीछे न भागनेवाला व्यक्ति ही श्रमणत्व का भागी होता है।

२—अप्पमादवग्गो

(२१)

अप्पमादो अमत-पदं पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता ॥ १ ॥

अप्रमाद अमृत-पद है, प्रमाद मृत्यु का पद। अप्रमादी मनुष्य मरते नहीं, और प्रमादी मनुष्य मृत ही के समान होते हैं।

(२२)

एवं विसेसतो ञत्वा अप्पमादम्हि पण्डिता।
अप्पमादे पमोदन्ति अरियानं गोचरे रता ॥ २ ॥

अप्रमाद के विषय में उसे विशेष रूप से जान, आर्यों के आचरण में रत, पण्डित-जन अप्रमाद में प्रसन्न होते हैं।

(२३)

ते झायिनो साततिका निच्चं दळ्ह-परक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खेमं अनुत्तरं ॥ ३ ॥

ध्यान करनेवाले, जागरूक, नित्य दृढ़ पराक्रम में लगे रहनेवाले धीर-जन ही अनुत्तर योग-क्षेम निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

(२४)

उट्ठानवतो सतिमतो
सुचिकम्मस्स निसम्मकारिणो।

सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो

अप्पमत्तस्स यसोभिवड्ढति ॥४॥

उद्योगी, जागरूक, पवित्र-कर्म करने वाले, सोच समझ कर काम करनेवाले, संयमी, धर्मानुसार जीविका चलानेवाले, अप्रमादी मनुष्य के यश की वृद्धि होती है।

(२५)

उट्ठानेनऽप्पमादेन सञ्ञमेन दमेन च।

दीपं कयिराथ मेधावी यं ओघो नाभिकीरति ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य उद्योग, अप्रमाद, संयम और दम द्वारा ऐसा द्वीप बनावे, जिसे बाढ़ डुबा न सके।

(२६)

पमादमनुयुञ्जन्ति बाला दुम्मेधिनो जना।

अप्पमादञ्च मेधावी धनं सेट्ठं 'व रक्खति ॥ ६ ॥

मूर्ख, दुर्बुद्धि प्रमाद करते हैं। बुद्धिमान् पुरुष श्रेष्ठधन की तरह अप्रमाद की रक्षा करते हैं।

(२७)

मा पमादमनुयुञ्जेथ मा कामरतिसन्थवं।

अप्पमत्तो हि झायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं ॥७॥

प्रमाद मत करो। काम-भोगों में मत फँसो प्रमाद-रहित हो ध्यान करने से विपुल सुख की प्राप्ति होती है।

(२८)

पमादं अप्पमादेन यदा नुदति पण्डितो।

पञ्ञापासादमारुय्ह असोको सोकिनिं पजं।

पब्बतट्ठो व भुम्मट्ठे धीरो बाले अवेक्खति ॥ ८ ॥

३—चित्तवग्गो

(३३)

फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो'व तेजनं ॥ १ ॥

चित्त चंचल है, चपल है, दुर्-रक्ष्य है, दुर्-निवार्य है। मेधावी-पुरुष इसे उसी प्रकार सीधा करता है, जैसे बाण बनानेवाला बाण को।

(३४)

वारिजो'व थले खित्तो ओकमोकत उब्भतो।
परिफन्दति'दं चित्तं मारधेय्यं पहातवे ॥ २ ॥

जलाशय से निकालकर स्थल पर फेंक दी गई मछली तड़फड़ाती है। उसी प्रकार चित्त मार के फंदे से निकलने के लिये तड़फड़ाता है।

(३५)

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ कामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं ॥ ३ ॥

कठिनाई से निग्रह किये जा सकनेवाले शीघ्रगामी, जहाँ चाहे वहाँ चले जानेवाले चित्त का दमन करना अच्छा है। दमन किया गया चित्त सुख देनेवाला होता है।

(३६)

सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थकामनिपातिनं।
चित्तं रक्खेय्य मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं ॥ ४ ॥

जब बुद्धिमान् आदमी प्रमाद को अप्रमाद से जीत लेता है, तो प्रज्ञा-रूपी प्रासाद पर चढ़ा हुआ वह शोकरहित धीर मनुष्य दूसरे शोक-ग्रस्त मूर्ख जनों की ओर उसी तरह देखता है, जैसे पर्वत पर खड़ा हुआ आदमी जमीन पर खड़े हुए आदमियों की ओर।

(२६)

अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं 'व सीघस्सो हित्त्वा याति सुमेधसो ॥ ९ ॥

प्रमादियों में अप्रमादी, सोते रहनेवालों में जागरूक, बुद्धिमान्-आदमी उसी प्रकार आगे बढ़ जाता है, जैसे शीघ्र-गामी घोड़ा दुर्बल घोड़े से।

(३०)

अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा ॥१०॥

अप्रमाद से ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ बना। इसलिए अप्रमाद की सदा प्रशंसा होती है और प्रमाद की निन्दा।

(३१)

अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
सञ्ञोजनं अणुं थूलं डहं अग्गीव गच्छति ॥११॥

अप्रमाद में रत रहने वाला या प्रमाद से भय खाने वाला भिक्षु, आग की तरह, छोटे-मोटे बन्धनों को जलाता हुआ जाता है।

(३२)

अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
अभब्बो परिहाणाय निब्बाणस्सेव सन्तिके ॥१२॥

अप्रमाद में रत रहने वाले या प्रमाद से भय खाने वाले भिक्षु का पतन होना असम्भव है। वह निर्वाण के समीप है।

बुद्धिमान् मनुष्य दुष्करता से दिखाई देने वाले, अत्यन्त चालाक, जहाँ चाहे वहाँ चले जानेवाले चित्त की रक्षा करे। सँभाल कर रक्खा गया चित्त सुख देने वाला होता है।

(३७)

दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं सञ्ञमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना ॥५॥

जो दूरगामी, अकेले विचरनेवाले, निराकार, गुह्यआशय चित्त का संयम करेंगे, वे ही मार के बन्धन से मुक्त होंगे।

(३८)

अनवट्ठितचित्तस्स सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स पञ्ञा न परिपूरति ॥६॥

जिसका चित्त स्थिर नहीं, जो सद्धर्म को जानता नहीं, जिसका चित्त प्रसन्न नहीं वह कभी प्रज्ञावान् नहीं हो सकता।

(३९)

अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीणस्स नत्थि जागरतो भयं ॥ ७ ॥

जिसका चित्त मल-रहित है, जिसका चित्त स्थिर है, जो पाप-पुण्य-विहीन है, उस जागरूक पुरुष के लिए भय नहीं।

(४०)

कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा
नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा।
योधेथ मारं पञ्ञायुधेन
जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया ॥८॥

शरीर को घड़े के समान (नश्वर) और चित्त को नगर के समान जान, प्रज्ञारूपी हथियार लेकर मार से युद्ध करे। जीत लेने पर भी चित्त की रक्षा करे तथा अनासक्त रहे।

(४१)

अचिरं वत'यं कायो पठविं अधिसेस्सति।

छुद्धो अपेतविञ्ञाणो निरत्थं 'व कलिङ्गरं ॥ ९ ॥

अहो! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतना-रहित हो निरर्थक काठ की भाँति जमीन पर जा पड़ेगा।

(४२)

दिसो दिसं यन्तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं।

मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो' नं ततो करे ॥१०॥

शत्रु शत्रु की वा वैरी वैरी की जितनी हानि करता है, कुमार्ग की ओर गया हुआ चित्त मनुष्य की उससे कहीं अधिक हानि करता है।

(४३)

न तं माता पिता कयिरा अञ्ञे वापि च ञातका।

सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो'नं ततो करे ॥११॥

न माता-पिता, न दूसरे रिश्तेदार, आदमी की उतनी भलाई करते हैं, जितनी भलाई सन्मार्ग की ओर गया हुआ चित्त करता है।

———

४—पुप्फवग्गो

(४४)

को इमं पठविं विजेस्सति यमलोकञ्च इमं सदेवकं।
को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ॥१॥

कौन है जो देवताओं सहित इस यमलोक तथा इस पृथ्वी को जीतेगा? कौन चतुर-पुरुष अच्छी तरह से उपदिष्ट धर्म के पदों का पुष्प की भाँति चयन करेगा?

(४५)

सेखो पठविं विजेस्सति यमलोकञ्च इदं सदेवकं।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति॥२॥

शैक्ष ही है, जो देवताओं सहित इस यमलोक तथा इस पृथ्वी को जीतेगा? चतुर शैक्ष अच्छी तरह से उपदिष्ट धर्म के पदों का पुष्प की भाँति चयन करेगा?

(४६)

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा
मरीचिधम्मं अभिसम्बुधानो।
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि
अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे ॥३॥

इस काया को फेन के समान या मरु-मरीचिका के समान जान, मार के फंदे को तोड़, यमराज को न दिखाई देनेवाला बने।

(४७)

पुप्फानि हेव पचिनन्तं ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो'व मच्चु आदाय गच्छति ॥४॥

(राग आदि) पुष्पों के चुनने में आसक्त आदमी को मृत्यु वैसे ही बहा ले जाती है, जैसे सोये हुए गाँव को (नदी की) बड़ी बाढ़।

(४८)

पुप्फानि हेव पचिनन्तं ब्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं ॥ ५ ॥

(राग आदि) पुष्पों के चुनने में आसक्त आदमी को यमराज काम-भोगों में अतृप्त अवस्था में ही अपने वश में कर लेता है।

(४९)

यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे ॥ ६ ॥

जिस प्रकार फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे।

(५०)

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं।
अत्तनो'व अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च ॥ ७ ॥

न दूसरों के दोष, न दूसरों के कृत-अकृत को देखे। (आदमी को चाहिए कि वह) अपने ही कृत-अकृत को देखे।

(५१)

यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं अगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो ॥ ८ ॥

जिस प्रकार सुन्दर वर्ण-युक्त (किन्तु) गन्ध-रहित पुष्प होता है, उसी प्रकार कथनानुसार कार्य्य न करने वाले की सुभाषित वाणी निष्फल होती है।

(५२)

यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं सगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा सफला होति सकुब्बतो ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सुन्दर वर्ण-युक्त सुगन्ध-युक्त पुष्प होता है, उसी प्रकार कथनानुसार कार्य्य करनेवाले की सुभाषित वाणी सफल होती है।

(५३)

यथापि पुप्फरासिम्हा कयिरा मालागुणे बहू।
एवं जातेन मच्चेन कत्तब्बं कुसलं बहुं ॥१०॥

जिस प्रकार कोई फूलों के ढेर में से बहुत सारी मालायें गूँथे, उसी प्रकार संसार में पैदा हुये प्राणी को चाहिये कि वह बहुत से शुभ कर्म करे।

(५४)

न पुप्फगन्धो पटिवातमेति
न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतञ्च गन्धो पटिवातमेति
सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति ॥११॥

न तो पुष्पों की सुगन्ध, न चंदन की सुगन्ध न तगर वा चमेली की सुगन्ध हवा के विरुद्ध जाती है; लेकिन सत्पुरुषों की सुगन्ध हवा के विरुद्ध भी जाती है। सत्पुरुष सभी दिशाओं में (अपनी सुगन्ध) फैलाते हैं।

(५५)

चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी ।

एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो ॥१२॥

चन्दन, तगर कमल या जूही, इन सभी की सुगन्धियों से सदाचार की सुगन्ध बढ़कर है ।

(५६)

अप्पमत्तो अयं गन्धो याऽयं तरगचन्दनी ।

यो च सीलवतं गन्धो याति देवेसु उत्तमो ॥ १३॥

यह जो तगर और चन्दन की गन्ध है यह अल्प मात्र है । सदाचरियों की उत्तम सुगन्ध देवताओं (तक) में फैलती है ।

(५७)

तेसं सम्पन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं ।

सम्मदञ्ञाविमुत्तानं मारो मग्गं न विन्दति ॥१४॥

उन सदाचारियों, निरालस विचरनेवालों तथा ज्ञान द्वारा पूरी तरह से मुक्त हुओं के मार्ग को मार नहीं रोकता है ।

(५८)

तथा संकरधानस्मिं उज्झितस्मिं महापथे ।

पदुमं तत्थ जायेथ सुचिगन्धं मनोरमं ॥१५॥

(५९)

एवं संकार भूतेसु अन्धभूते पुथुज्जने ।

अतिरोचति पञ्ञाय सम्मासम्बुद्धसावको ॥१६॥

जिस प्रकार महापथ पर फेंके हुए कूड़े के ढेर में सुन्दर सुगन्धित गुलाब का फूल पैदा हो, उसी प्रकार कूड़े के सदृश अन्धे अज्ञ जनों में सम्यक् सम्बुद्ध का शिष्य (अपनी) प्रज्ञा से प्रकाशमान होता है ।

५—बालवग्गो

(६०)

दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं ।
दीघो बलानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं ॥१॥

जागते रहनेवाले की रात लम्बी हो जाती है। थके हुये का योजन लम्बा हो जाता है। इसी प्रकार सद्धर्म को न जानने वाले मूर्ख आदमी का संसार (= आवगमन) लम्बा हो जाता है।

(६१)

चरञ्चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो ।
एक चरियंदल्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता ॥२॥

यदि विचरण करते हुये, अपने से श्रेष्ठ वा अपने जैसे साथी को न पाये, तो आदमी दृढ़तापूर्वक अकेला ही रहे। मूर्ख आदमी की संगति (अच्छी) नहीं।

(६२)

पुत्ता म'त्थि धनम'त्थि इति बालो विहञ्ञति ।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्ता कुतो धनं ॥ ३ ॥

'पुत्र मेरे हैं', 'धन मेरा है' सोच, मूर्ख आदमी दुःख पाता है। जब शरीर (तक) अपना नहीं, तो कहाँ पुत्र और कहाँ धन !

(६३)

यो बालो मञ्ञती बाल्यं पण्डितो वापि तेन सो ।
बालो च पण्डितमानी, स वे बालो'ति वुच्चति ॥ ४ ॥

यदि मूर्ख आदमी अपने को मूर्ख समझे, तो उतने अंश में तो वह बुद्धिमान् है। असली मूर्ख तो वह है जो मूर्ख होते हुए अपने आपको बुद्धिमान् समझता है।

(६४)

यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा ॥५॥

मूर्ख आदमी चाहे जन्म भर पण्डितों की संगति में रहे; वह सद्धर्म को नहीं जान सकता, जैसे कड़छी दाल के स्वाद को।

(६५)

मुहुत्तमपि चे विञ्ञू पण्डितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति जिह्वा सूपरसं यथा ॥६॥

बुद्धिमान् आदमी चाहे मुहूर्त भर ही पण्डितों की संगति में रहे; वह सद्धर्म को जान लेता है जैसे जिह्वा दाल के रस को।

(६६)

चरन्ति बाला दुम्मेधा अमित्तेनेव अत्तना।
करोन्ता पापकं कम्मं यं होति कटुकप्फलं ॥७॥

मूर्ख दुर्बुद्धि लोग पाप-कर्म करते हुए, जिसका फल कडुवा होता है, अपने आप अपने शत्रु की तरह आचरण करते हैं।

(६७)

न तं कम्मं कतं साधु यं कत्वा अनुतप्पति।
यस्स अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति ॥८॥

उस काम का करना अच्छा नहीं जिसे करके पीछे पछताना पड़े, और जिसके फल को रोते हुए भोगना पड़े।

(६८)

तञ्च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति ॥९॥

उस काम का करना अच्छा है, जिसे करके पीछे पछताना न पड़े, और जिसका फल प्रसन्न-चित्त होकर भोगना मिले।

(६९)

मधुवा मञ्ञति बालो याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ बालो दुक्खं निगच्छति ॥१०॥

जब तक पाप-कर्म फल नहीं देता तब तक मूर्ख आदमी उसे मधु की तरह (मीठा) समझता है, लेकिन जब पाप-कर्म फल देता है, तब उसे दुःख होता है।

(७०)

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसिं ॥११॥

यदि मूर्ख आदमी महीने महीने पर (केवल) कुशा की नोक से भी भोजन करे, तो भी वह धर्म के जानकारों के सोलहवें हिस्से के बराबर नहीं हो सकता।

(७१)

न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरंव मुच्चति।
डहन्तं बालमन्वेति भस्मच्छन्नोव पावको ॥१२॥

पापकर्म ताज़े दूध की भाँति तुरन्त विकार नहीं लाता। वह भस्म से ढकी आग की तरह जलाता हुआ मूर्ख आदमी का पीछा करता है।

(७२)

यावदेव अनत्थाय ञत्तं बालस्स जायति।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं मुद्धमस्स विपातयं ॥१३॥

मूर्ख आदमी का जितना ज्ञान है सब उसके लिए अनर्थकर होता है। उसकी मूर्धा (= शिर = प्रज्ञा) को गिराकर उसके शुभ कर्मों का नाश कर देता है।

(७३)

असतं भावनमिच्छेय्य पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु ।
आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च ॥१४॥

(७४)

ममेव कतमञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो ।
ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मचि ।
इति बलस्स सङ्कप्पो इच्छा मानो च वड्ढति ॥१५॥

अप्रस्तुत वस्तु की चाह करता है, भिक्षुओं में बड़ा बनने की चाह करता है, मठों और विहारों का स्वामी बनने की चाह करता है, दूसरे कुलों में पूजित होना चाहता है, 'गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया मानें' चाहता है, 'कृत्य अकृत्यों में मुझ पर ही निर्भर रहें' चाहता है—इसी प्रकार के संकल्प करनेवाले मूर्ख आदमी की इच्छाएँ और अभिमान बढ़ता है।

(७५)

अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बान-गामिनी ।
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खू बुद्धस्स सावको ॥
सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये ॥१६॥

लाभ का रास्ता दूसरा है और निर्वाण का दूसरा। इसे इस प्रकार जानकर बुद्ध का शिष्य भिक्षु सत्कार की इच्छा न करे, विवेक (= एकान्तचर्य्या) की वृद्धि करे।

६—पण्डितवग्गो

(७६)

निधीनं'व पवत्तारं यं पस्से पस्से वज्ज-दस्सिनं।
निग्गय्हवादिं मेधावि तादिसं पण्डितं भजे।
तादिसं भजमानस्स सेय्यो होति न पापियो ॥ १ ॥

जो आदमी अपना दोष दिखानेवाले को (भूमि में छिपे) धन दिखानेवाले की तरह समझे, जो संयम के समर्थक, मेधावी, पण्डित की संगति करे, उस आदमी का कल्याण ही होता है, अकल्याण नहीं।

(७७)

ओवदेय्यानुसासेय्य असब्भा च निवारये।
सतं हि सो पियो होति असतं होति अप्पियो ॥२॥

जो उपदेश दे, अनुशासन करे, अनुचित कार्य्य से रोके, वह सत्पुरुषों को प्रिय होता है, असत्पुरुषों को अप्रिय।

(७८)

न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे ॥ ३ ॥

न दुष्ट मित्रों की संगति करे, न अधम पुरुषों की संगति करे। अच्छे मित्रों की संगति करे, उत्तम पुरुषों की संगति करे।

(७९)

धम्मपीती सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा।
अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पण्डितो ॥ ४ ॥

धर्म (रस) का पान करनेवाला प्रसन्नचित्त हो सुख-पूर्वक सोता है। पण्डित (जन) सदा आर्यों के बताये धर्म में रमण करता है।

(८०)

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति पण्डिता ॥५॥

(पानी) ले जानेवाले पानी ले जाते हैं, बाण बनानेवाले बाण नवाते हैं, बढ़ई लकड़ी नवाते हैं और पण्डितजन अपना दमन करते हैं।

(८१)

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥६॥

जिस प्रकार ठोस पहाड़ हवा से नहीं डोलता, उसी प्रकार पण्डित निन्दा और प्रशंसा से कम्पित नहीं होते।

(८२)

यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता ॥७॥

पण्डित जन धर्म को सुनकर अथाह, स्वच्छ स्थिर तालाब की तरह प्रसन्न चित्त होते हैं।

(८३)

सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति
न कामकामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन
न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥ ८ ॥

सत्पुरुष कहीं आसक्त नहीं होते। वह काम भोगों के लिए बात नहीं बनाते। उन्हें चाहे दुःख हो चाहे सुख, पण्डितजन विकार को प्राप्त नहीं होते।

(८४)

न अत्तहेतु न परस्स हेतु
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं ।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो
स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया ॥९॥

(अधर्म से) न अपने लिये पुत्र धन या राष्ट्र की इच्छा करे (न दूसरे के लिये)। जो अधर्म से अपनी उन्नति नहीं चाहता, वही सदाचारी है, प्रज्ञावान है, धार्मिक है।

(८५)

अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ॥१०॥

जो पार पहुँचते हैं वह तो मनुष्यों में थोड़े ही हैं, बाकी आदमी तो किनारे पर ही दौड़ते रहते हैं।

(८६)

ये च खो सम्मदक्खाते धम्मे धम्मानुवत्तिनो ।
ते जना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं ॥११॥

जो भली भाँति स्पष्ट कर दिये गये धर्म के अनुसार आचरण करते हैं, वही मृत्यु गृहीत दुस्तर (संसार सागर) को पार करेंगे।

(८७)

कण्हं धम्मं विप्पहाय सुक्कं भावेथ पण्डितो ।
ओका अनोकं आगम्म विवेके यत्थ दूरमं ॥१२॥

(८८)

तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिञ्चनो ।
परियोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥१३॥

पाप-कर्म को छोड़ पण्डित जन शुभ कर्म करे। घर से बे-घर हो दूर जा एकान्त-सेवन करे। काम भोगों को छोड़ सर्वस्व त्यागी बन वहीं रत रहने की इच्छा करे। पण्डित (जन) अपने चित्त के मैल को दूर करे।

(८९)

येसं सम्बोधि-अङ्गेसु सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदान-पटिनिस्सग्गे अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता ॥१४॥

जिनका चित्त सम्बोधि-अङ्गों में भली भाँति अभ्यस्त है, जो परिग्रह के परित्यागपूर्वक अपरिग्रह में रत हैं, चित्त-मल से रहित ऐसे द्युतिमान् (पुरुष) ही लोक में निर्वाण-प्राप्त हैं।



७—अरहन्तवग्गो

(९०)

गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि ।

सब्बगन्थप्पहीणस्स परिलाहो न विज्जति ॥१॥

जिसका मार्ग समाप्त हो गया, जो शोकरहित है, जो सर्वथा विमुक्त है, जिसकी सभी ग्रन्थियाँ क्षीण हो गईं, उसके लिये परिताप नहीं ।

(९१)

उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो न निकेते रमन्ति ते ।

हंसा 'व पल्ललं हित्वा ओकमोकं जहन्ति ते ॥२॥

स्मृतिमान् उद्योग करते हैं । वे घर में नहीं रहते । जिस प्रकार हंस क्षुद्र जलाशय को छोड़ जाते हैं उसी प्रकार वे घर को छोड़कर चले जाते हैं ।

(९२)

येसं सन्निचयो नत्थि ये परिञ्ञातभोजना ।

सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।

आकासे 'व सकुन्तानं गति तेसं दुरन्नया ॥३॥

जो संचय नहीं करते, जिनको भोजन की उचित मात्रा ज्ञात है, शून्यता-स्वरूप तथा निमित्त-रहित निर्वाण जिनके गोचर हैं, उनकी गति उसी प्रकार अज्ञेय है जिस प्रकार आकाश में पक्षियों की गति ।

(९३)

यस्सा'सवा परिक्खीणा आहारे च अनिस्सितो ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।
आकासे 'व सकुन्तानं पदं तस्स दुरन्नया ॥४॥

जिसके आश्रव क्षीण हो गये, जो आहार में आसक्त नहीं, शून्यता स्वरूप तथा निमित्त-रहित नर्वाण जिसके गोचर है, उसकी गति उसी प्रकार अज्ञेय है जैसे आकाश में पक्षियों की गति ।

(९४)

यस्सिन्द्रियाणि समथं गतानि,
अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता ।
पहीनमानस्स अनासवस्स,
देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो ॥५॥

सारथी द्वारा सुशिक्षित घोड़ों की तरह जिसकी इन्द्रियाँ शांत हैं, जिनका अभिमान नष्ट हो गया है, जो आश्रव-रहित है, ऐसे (पुरुष) की देवता भी स्पृहा करते हैं ।

(९५)

पठवीसमो नो विरुज्झति इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो ।
रहदो'व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो ॥६॥

इन्द्रकील के समान (अचल) व्रतधारी उसी तरह क्षुब्ध नहीं होता जैसे पृथ्वी । उस स्थिर पुरुष में उसी तरह संसार (मल) नहीं रहता जैसे कर्दम-रहित सरोवर में ।

(९६)

सन्तं अस्स मनं होति सन्ता वाचा च कम्म च ।
सम्मदञ्ञाविमुत्तस्स उपसन्तस्स तादिनो ॥७॥

उपशान्त, ज्ञान द्वारा पूरी तरह मुक्त हुए उस स्थिर चित्त (पुरुष) का मन शान्त होता है, वाणी शान्त होती है।

(९७)

अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तमपोरिसो ॥८॥

जो (अन्ध-) श्रद्धा से रहित है, जिसने निर्वाण को जान लिया है, जिसने बन्धन को काट दिया है, जिनके (पुनर्जन्म की) गुंजायश नहीं, जिसने (विषय-भोग की) आशा को त्याग दिया है वही उत्तम पुरुष है।

(९८)

गामे वा यदि वा रञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं ॥९॥

गाँव हो या जङ्गल, नीची भूमि हो या (ऊँचा) स्थल, जहाँ अर्हत् लोग विहार करते हैं वही रमणीय-भूमि है।

(९९)

रमणीयानि अरञ्ञानि यत्थ न रमते जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति न ते कामगवेसिनो ॥१०॥

रमणीय वन जहाँ साधारण लोग रमण नहीं करते वहाँ वीत-रागी रमण करते है, क्योंकि वह काम-भोगों के पीछे दौड़नेवाले नहीं होते।

८—सहस्सवग्गो

(१००)

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥१॥

अनर्थकारी-पदों से युक्त सहस्रों वाणियों से एक उपयोगी पद श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त हो।

(१०१)

सहस्समपि चे गाथा अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥२॥

अनर्थकारी-पदों से युक्त सहस्रों गाथाओं से एक उपयोगी गाथा श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति हो।

(१०२)

यो च गाथा सतं भासे अनत्थपदसंहिता।
एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥३॥

अनर्थकारी-पदों से युक्त कोई सौ गाथायें कहे। उनसे धर्म का एक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति होती है।

(१०३)

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो ॥४॥

एक आदमी संग्राम में लाखों आदमियों को जीत ले, और एक दूसरा अपने आपको जीत ले। यह दूसरा आदमी ही (सच्चा) संग्राम-विजयी है।

(१०४)

अत्ता हवे जितं सेय्यो या चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स निच्चं सञ्ञतचारिनो ॥५॥

(१०५)

नेव देवो न गंधब्बो न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा तथारूपस्स जन्तुनो ॥६॥

दूसरों को जीतने की अपेक्षा अपने को ही जीतना श्रेष्ठ है। जिस आदमी ने अपने आपको दमन कर लिया, जो अपने को नित्य संयत रखता है; उस आदमी की जीत को न देवता, न गन्धर्व न ब्रह्मा सहित मार ही, हार में परिणत कर सकते हैं।

(१०६)

मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं।
एकञ्च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥७॥

एक आदमी सहस्र(दक्षिणा) दे महीने महीनेसौ वर्ष तक यज्ञ करे, और एक दूसरा आदमी किसी परिशुद्ध-मनवाले का मुहुर्त्त भर भी सत्कार करे। सौ वर्ष के हवन से वह मुहूर्त्त भर की पूजा ही श्रेष्ठ है।

(१०७)

यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने।
एकं च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥८॥

एक आदमी सौ वर्ष तक वन में यज्ञ करे, और एक दूसरा आदमी किसी परिशुद्ध मनवाले का मुहूर्त्त भर भी सत्कार करे। सौ वर्ष के यज्ञ से वह मुहूर्त्त भर की पूजा ही श्रेष्ठ है।

(१०८)

यं किंचि यिट्ठं च हुतं च लोके,
संवच्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो।
सब्बम्पि तं न चतुभागमेति,
अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो ॥९॥

पुण्य की इच्छा से वर्ष भर जो यज्ञ और हवन करे, वह सब सरल चित्त पुरुष को किये गए अभिवादन के चौथे हिस्से के बराबर भी नहीं है। सरल-चित्त पुरुषों को किया गया अभिवादन ही श्रेष्ठ है।

(१०९)

अभिवादनसीलिस्स निच्चं वद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं ॥१०॥

जो अभिवादनशील है, जो नित्य बड़ों की सेवा करता है उसकी आयु, वर्ण, सुख तथा बल में वृद्धि होती है।

(११०)

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो ॥११॥

दुराचारी और चित्त की एकाग्रता से हीन व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से सदाचारी और ध्यानी का एक दिन का जीवन भी श्रेष्ठ है।

(१११)

यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स झायिनो ॥१२॥

दुष्प्रज्ञ और चित्त की एकाग्रता-हीन व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से प्रज्ञावान् और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

(११२)

यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो दळ्हं ॥१३॥

आलसी और अनुद्योगी के सौ वर्ष के जीवन से दृढ़तापूर्वक उद्योग करनेवाले का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

(११३)

यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं उदयव्ययं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयव्ययं ॥१४॥

उत्पत्ति और विनाश पर विचार न करते हुए सौ वर्ष तक जीने से उत्पत्ति और विनाश पर विचार करते हुये एक दिन का जीना श्रेष्ठ है।

(११४)

यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं ॥१५॥

अमृत पद (-निर्वाण) को न देखते हुए सौ वर्ष तक जीने से अमृत-पद को देखते हुए एक दिन जीना श्रेष्ठ है।

(११४)

यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं धम्ममुत्तमं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥१६॥

उत्तम धर्म की ओर ध्यान न देते हुए सौ वर्ष के जीने से उत्तम धर्म की ओर ध्यान देते हुए एक दिन जीना श्रेष्ठ है।

९—पापवग्गो

(११६)

अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये।

दन्धं हि करोतो पुञ्ञं पापस्मिं रमते मनो ॥ १ ॥

शुभ कर्म करने में जल्दी करे, पापों से मन को हटाये। शुभ कर्म करने में ढील करने पर मन पाप में रत होने लगता है।

(११७)

पापञ्चे पुरिसो कयिरा न तं कयिरा पुनप्पुनं।

न तम्हि छन्दं कयिराथ दुक्खो पापस्स उच्चयो ॥ २ ॥

यदि पाप करे तो उसे फिर फिर न करे। उसमें रत न होवे। पाप का संचय दुःख का कारण होता है।

(११८)

पुञ्ञञ्चे पुरिसो कयिरा कयिराथेनं पुनप्पुनं।

तम्हि छन्दं कयिराथ सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो ॥ ३ ॥

यदि शुभ कर्म करे, तो उसे फिर फिर करे। उसमें रत होवे। पुण्य का संचय सुख का कारण होता है।

(११९)

पापोपि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति।

यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति ॥ ४ ॥

पापी को भी तब तक भला लगता है, जब तक पाप फल नहीं देता। जब पाप फल देता है, तब उसे बुरा लगता है।

(१२०)

भद्रोपि पस्सति पापं याव भद्रं न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रो भद्राणि पस्सति॥ ५॥

पुण्य करनेवाले को भी तब तक बुरा लगता है जब तक पुण्य फल नहीं देता। जब पुण्य फल देता है तब उसे अच्छा लगता है।

(१२१)

मावमञ्ञेथ पापस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
पूरति बालो पापस्स थोक-थोकम्पि आचिनं॥ ६॥

'मेरे पास न आयेगा' सोच पाप की अवहेलना न करे। बूँद बूँद पानी गिरने से घड़ा भर जाता है। मूर्ख आदमी थोड़ा थोड़ा पाप इकट्ठा कर लेता है।

(१२२)

मावमञ्ञेथ पुञ्ञस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
पूरति धीरो पुञ्ञस्स थोक-थोकम्पि आचिनं॥ ७॥

'मेरे पास न आयेगा' सोच पुण्य की अवहेलना न करे। बूँद बूँद पानी गिरने से घड़ा भर जाता है। धैर्य्यवान् थोड़ा थोड़ा करके पुण्य संचय कर लेता है।

(१२३)

वाणिजो 'व भयं मग्गं अप्पसत्थो महद्धनो।
विसं जीवितुकामो'व पापानि परिवज्जये॥ ८॥

थोड़े काफिले और बहुत धनवाला व्यापारी भययुक्त मार्ग को छोड़ देता है, अथवा जीने की इच्छावाला विष को छोड़ देता है, उसी प्रकार (मनुष्य) पापों को छोड़ दे।

(१२४)

पाणिम्हि चे वणो नास्स हरेय्य पाणिना विसं।
नाब्बणं विसमन्वेति नत्थि पापं अकुब्बतो ॥ ९ ॥

यदि हाथ में घाव न हो, तो हाथ में विष लिया जा सकता है, क्योंकि घाव-रहित हाथ में विष नहीं चढ़ता। इसी प्रकार न करनेवाले को पाप नहीं लगता।

(१२५)

यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं,
सुखुमो रजो पटिवातं' व खित्तो ॥१०॥

जो शुद्ध, निर्मल, दोष-रहित मनुष्य को दोषी ठहराता है, उस दोषी ठहरानेवाले मूर्ख को ही पाप लगता है। जैसे हवा की दिशा के विरुद्ध फेंकी हुई सूक्ष्म धूलि फेंकनेवाले पर ही पड़ती है।

(१२६)

गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा ॥११॥

कोई संसार में उत्पन्न होते हैं। पापी नरक में जाते हैं। शुभकर्मी स्वर्ग में जाते हैं, और जो चित्त के मलों से रहित हैं वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

(१२७)

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा ॥१२॥

न आकाश में, न समुद्र की तह में, न पर्वतों के गह्वर में—संसार में कहीं कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ रहकर आदमी पाप-कर्म से बच सके।

(१२८)

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्थट्ठितं न प्पसहेय्य मच्चू ॥१३॥

न आकाश में, न समुद्र की तह में, न पर्वतों के गह्वर में—संसार में कहीं कोई ऐसी जगह नहीं जहाँ रहनेवाला मृत्यु से बच सके।

१०—दण्डवग्गो

(१२९)

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥ १॥

सभी दण्ड से डरते हैं, सभी को मृत्यु से भय लगता है। इसलिए सभी को अपने जैसा समझ न किसी को मारे, न मरवावे।

(१३०)

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥ २॥

सभी दण्ड से डरते हैं, सभी को जीवन प्रिय है। इसलिए सभी को अपने जैसा समझ न किसी को मारे, न मरवावे।

(१३१)

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं॥ ३॥

सुख की चाह से जो सुख चाहनेवाले प्राणियों को डण्डे से मारता है, वह मरकर सुख नहीं पाता है।

(१३२)

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो लभते सुखं॥ ४॥

सुख की चाह से जो सुख चाहनेवाले प्राणियों को डण्डे से नहीं मारता, वह मरकर सुख पाता है।

(१३३)

मा वोच फरुसं कञ्चि वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं॥ ५॥

किसी से कठोर वचन मत बोलो, दूसरे तुमसे कठोर वचन बोलेंगे। दुर्वचन दुःखदायी होते हैं। बोलने से बदले में तुम दण्ड पाओगे।

(१३४)

स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बाणं सारम्भो ते न विज्जति॥ ६॥

यदि पीटे जाने पर (टूटे) कांसे की तरह अपने आपको निःशब्द रक्खो, तो तुमने निर्वाण पा लिया, तुम्हारे लिए कलह नहीं रहा।

(१३५)

यथा दण्डेन गोपालो गावो पाचेति गोचरं।
एवं जरा च मच्चू च आयुं पाचेन्ति पाणिनं॥ ७॥

जैसे ग्वाला गायों को डण्डे से चरागाह में ले जाता है, वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाते हैं।

(१३६)

अथ पापानि कम्मानि करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो अग्गिदड्ढोव तप्पति॥ ८॥

पाप-कर्म करता हुआ मूर्ख आदमी नहीं बूझता। पीछे दुर्बुद्धि अपने उन्हीं कर्मों के कारण आग से जलते हुए की तरह तपता है।

(१३७)

यो दण्डेन अदण्डेसु अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं खिप्पमेव निगच्छति ॥ ९ ॥

(१३८)

वेदनं फरुसं जानिं सरीरस्स ज भेदनं।
गरुकं वापि आबाधं चित्तक्खेपं व पापुणे ॥ १० ॥

(१३९)

राजतो वा उपस्सग्गं अब्भक्खानं व दारुणं।
परिक्खयं व ञातीनं भोगानं व पभङ्गुरं ॥ ११ ॥

(१४०)

अथवस्स अगारानि अग्गी डहति पावको।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो निरयं सोपपज्जति ॥१२॥

जो दण्डरहितों को दण्ड से पीड़ित करता है या दोषरहितों को दोष (लगाता है), उसे इन दस बातों में से कोई एक बात शीघ्र ही होती है—(१) तीव्र वेदना, (२) हानि, (३) अंग-भंग, (४) भारी बीमारी, (५) पागलपन, (६) राजदण्ड (७) कड़ी निन्दा, (८) रिश्तेदारों का विनाश. (९) भोगों का क्षय, (१०) आग उसके घर को जला देती है। शरीर छूटने पर वह दुष्प्रज्ञ नरक में उत्पन्न होता है।

(१४१)

न नग्गचरिया न जटा न पङ्का
नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ॥१३॥

न नंगे रहने से, न जटा (धारण करने) से, न कीचड़ (लपेटने) से, न उपवास करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल लपेटने से, न उकड़ूँ बैठने से ही उस आदमी की शुद्धि होती है, जिसकी आकांक्षायें बाकी हैं।

(१४२)

अलङ्कतो चेपि समं चरेय्य
सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं
सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू ॥१४॥

अलङ्कृत होते हुये भी यदि उसका आचारण सम्यक् है, यदि वह शान्त है, यदि वह दान्त है, यदि वह नियत ब्रह्मचारी है और यदि उसने सभी प्राणियों के प्रति दण्ड त्याग दिया है, तो वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।

(१४३)

हिरीनिसेधो पुरिसो कोचि लोकस्मिं विज्जति।
यो निन्दं अप्पबोधति अस्सो भद्रो कसामिव ॥१५॥

लोक में कुछ आदमी ऐसे होते हैं, जिन्हें उनकी अपनी लज्जा निषिद्ध-कर्म करने से रोक लेती है। जिस प्रकार उत्तम घोड़ा चाबुक को नहीं सह सकता, उसी प्रकार वह निन्दा को नहीं सह सकते।

(१४४)

अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो
आतापिनो संवेगिनो भवाथ।
सद्धाय सीलेन च विरियेन च
समाधिना धम्मविनिच्छयेन च।

सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता
पहस्सथ, दुक्खमिदं अनप्पकं ॥१६॥

चाबुक खाये उत्तम घोड़े की तरह प्रयत्न-शील और संवेग-युक्त बनो। श्रद्धा, शील, वीर्य्य, समाधि तथा धर्म-विनिश्चय से युक्त हो विद्यावान् और आचारवान् बन स्मृति को रख, उस महान् दुःख का अन्त करो।

(१४५)

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका
उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका
अत्तानं दमयन्ति सुब्बता ॥१७॥

(पानी) ले जाने वाले पानी ले जाते हैं, बाण बनानेवाले बाण नवाते है, बढ़ई लकड़ी नवाते हैं और सुव्रती (जन) अपना दमन करते हैं।

११—जरावग्गो

(१४६)

कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ ॥ १ ॥

सब कुछ जल रहा है, तुम्हें हँसी और आनन्द सूझता है! अन्धकार से घिरे रहकर (भी) तुम प्रदीप को नहीं खोजते?

(१४७)

पस्स चित्तकतं बिम्बं अरुकायं समुस्सितं।
आतुरं बहुसङ्कप्पं यस्स नत्थि धुवं ठिति ॥ २ ॥

इस विचित्र शरीर को देखो, जो व्रणों से युक्त है, जो फूला है, जो रोगी है, जो नाना प्रकार के संकल्पों से युक्त है, जिसकी स्थिति निश्चित नहीं है।

(१४८)

परिजिण्णमिदं रूपं रोगनिड्ढं पभङ्गुरं।
भिज्जती पूतिसन्देहो मरणन्तं हि जीवितं ॥ ३ ॥

यह शरीर जीर्ण शीर्ण है, रोग का घर है, भंगुर है, सड़कर भग्न होनेवाला है, सभी जीवितों को मरना होता है।

(१४९)

यानि'मानि अपत्थानि अलाबूनेव सारदे।
कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान का रति ॥ ४ ॥

यह जो शरद्-काल की सी अपथ्य लौकी की तरह या कबूतरों की सफेदी की सी सफेद हड्डियाँ हैं, उन्हें देखकर (शरीर में) किसी की क्या रति होगी !

(१५०)

अट्ठीनं नगरं कतं मंसलोहितलेपनं।
यत्थ जरा च मच्चू च मानो मक्खो च ओहितो ॥ ५ ॥

हड्डियों का नगर बनाया गया है, मांस और रक्त से लेपा गया है, उसमें बुढ़ापा, मृत्यु, अभिमान और डाह छिपे हैं।

(१५१)

जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता
अथो सरीरम्पि जरं उपेति ।
सतं च धम्मो न जरं उपेति
सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति ॥ ६ ॥

सुचित्रित राजरथ पुराने पड़ जाते हैं, शरीर जरा को प्राप्त हो जाता है; किन्तु बुद्धों का धर्म जरा को नहीं प्राप्त होता। सन्त-जन सत्पुरुषों से ऐसा कहते हैं।

(१५२)

अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिवद्दो'व जीरति।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥ ७ ॥

अज्ञानी पुरुष बैल की तरह बढ़ता जाता है। उसका मांस बढ़ता है, प्रज्ञा नहीं।

(१५३)

अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं ।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥ ८ ॥

(१५४)

गहकारक ! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि ।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं ।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥ ९ ॥

गृहकारक को ढूँढ़ते हुए मैं अनेक जन्मों तक लगातार संसार में दौड़ता रहा । बार बार जन्म लेना दुःख है । गृहकारक ! तू दिखाई दे गया । अब फिर घर नहीं बना सकेगा । तेरी सब कड़ियाँ टूट गईं । घर का शिखर बिखर गया । चित्त संस्कार-रहित हो गया । तृष्णाओं का क्षय हो गया ।

(१५५)

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं ।
जिण्णकोंचाव झायन्ति खीणमच्छेव पल्लले ॥१०॥

जिन्होंने ब्रह्मचर्य्य का पालन नहीं किया, जिन्होंने जवानी में धन नहीं कमाया, वह बिना मछली के तालाब में बूढ़े क्रौंच पक्षी की तरह ध्यान लगाते हैं ।

(१५६)

अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बणे धनं ।
सेन्ति चापातिखीणाव पुराणानि अनुत्थुनं ॥११॥

जिन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया, जिन्होंने जवानी में धन नहीं कमाया, वह टूटे धनुष की तरह पुरानी बातों पर पछताते हुए पड़े रहते हैं ।

१२—अत्तवग्गो

(१५७)

अत्तानं चे पियं जञ्ञा रक्खेय्य तं सुरक्खितं।
तिण्णमञ्ञतरं यामं पटिजग्गेय्य पण्डितो ॥ १ ॥

यदि अपने को प्यार करता हो, तो अपने को सँभाले रक्खे। पण्डित (जन) रात के तीन पहरों में से एक पहर जागता रहे।

(१५८)

अत्तानं एव पठमं पटिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥ २ ॥

जो उचित है उसे यदि पहले अपने करके पीछे दूसरे को उपदेश करे, तो पण्डित (जन) को क्लेश न हो।

(१५९)

अत्तानञ्चे तथा कयिरा यथञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दम्मेथ अत्ता हि किर दुद्दमो ॥ ३ ॥

यदि पहले स्वयं वैसा करे, जैसा औरों को उपदेश देता है, तो अपने को दमन कर सकनेवाला दूसरों का भी दमन कर सकता है। वस्तुतः अपने को दमन करना ही कठिन है।

(१६०)

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तनाव सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥ ४ ॥

आदमी अपना स्वामी आप है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है ? अपने को दमन करने वाला दुर्लभ स्वामित्व को पाता है।

(१६१)

अत्तनाव कतं पापं अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति दुम्मेधं वजिरं वस्ममयं मणिं ॥ ५ ॥

अपने से पैदा हुआ, अपने से उत्पन्न, अपने किया गया पाप दुर्बुद्धि आदमी को वैसे ही पीड़ित करता है जैसे पाषाणमय-मणि को वज्र।

(१६२)

यस्सच्चन्तदुस्सील्यं मालुवा सालमिवोततं।
करोति सो तथत्तानं यथानं इच्छती दिसो ॥ ६ ॥

शाल वृक्ष पर फैली मालुवा लता की भाँति जिसका दुराचार फैला है, वह अपने लिये वैसा ही करता है जैसा उसके शत्रु चाहते हैं।

(१६३)

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितञ्च साधुञ्च तं वे परमदुक्करं ॥ ७ ॥

बुरे और अपने लिए अहितकर-कार्य्यों का करना आसान है; लेकिन शुभ और हितकर कार्य्यों का करना बहुत कठिन है।

(१६४)

यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तहञ्ञाय फुल्लति ॥ ८ ॥

भ्रान्त-सिद्धाँत का अनुयायी होने के कारण जो दुर्बुद्धि धर्मजीवी आर्य अर्हतों के शासन की निन्दा करता है वह बाँस के फल की भांति आत्म-हत्या के ही लिए फलता है।

(१६५)

अत्तना'व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं अत्तना'व विसुज्झति॥
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं नञ्ञो अञ्ञं विसोधये ॥ ९ ॥

अपना किया पाप अपने को मलिन करता है, अपना न किया पाप अपने को शुद्ध करता है। प्रत्येक आदमी की शुद्धि-अशुद्धि अलग-अलग है। एक आदमी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता।

(१६६)

अत्तदत्थं परत्थेन बहुनापि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसुतो सिया ॥१०॥

परार्थ के लिये आत्मार्थ को बहुत ज्यादह भी न छोड़े। आत्मार्थ को जानकर सदर्थ में लगे।



१३—लोकवग्गो

(१६७)

हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य न सिया लोक-वड्ढनो ॥ १ ॥

पाप-कर्म न करे। प्रमाद से न रहे। झूठी धारणा न रक्खे और आवागमन को बढ़ानेवाला न बने।

(१६८)

उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥ २ ॥

उठे, आलसी न बने और सुचरित-धर्म का आचरण करे। धर्मचारी इस लोक और परलोक में सुख से रहता है।

(१६९)

धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥ ३ ॥

सुचरित-धर्म का आचरण करे, दुश्चरित-कर्म न करे। धर्मचारी इस लोक और परलोक में सुख से रहता है।

(१७०)

यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥ ४ ॥

आदमी जैसे जैसे बुलबुले को देखता है, जैसे (मरु-) मरीचिका को देखता है, वैसे ही जो (पुरुष), लोक को देखता है, उसकी ओर यमराज (आँख उठाकर) नहीं देखता।

(१७१)

एथ पस्सथिमं लोकं चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्गो विजानतं ॥ ५ ॥

आओ, विचित्र राजरथ के समान इस लोक को देखो, जिसमें मूढ़ जन आसक्त होते हैं; ज्ञानी आसक्त नहीं होते।

(१७२)

यो च पुब्बे पमज्जित्वा पच्छा सो नप्पमज्जति।
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तोव चन्दिमा ॥ ६ ॥

जो पहले भूल करके (भी) फिर भूल नहीं करता वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भांति इस लोक को प्रकाशित करता है।

(१७३)

यस्स पापं कतं कम्मं कुसलेन पिथीयति।
सोमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तोव चन्दिमा ॥ ७ ॥

जो अपने किये पाप-कर्म को कुशल कर्म से ढक देता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भांति इस लोक को प्रकाशित करता है।

(१७४)

अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति।
सकुन्तो जालमुत्तोव अप्पो सग्गाय गच्छति ॥ ८ ॥

यह संसार अन्धा है, थोड़े ही यहाँ देखते हैं। जाल से मुक्त पक्षियों की तरह थोड़े ही लोग स्वर्ग को जाते हैं।

(१७५)

हंसादिच्चपथे यन्ति आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा जेत्वा मारं सवाहिनिं ॥ ९ ॥

हंस आकाश में उड़ते हैं, ऋद्धि-बल-प्राप्त आकाश-मार्ग से जाते हैं और सेना-सहित मार को जीत लेने पर धीर-जन लोक से (निर्वाण को) ले जाये जाते हैं।

(१७६)

एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं ॥१०॥

जो एक (इस) नियम को लाँघ गया है, जो झूठ बोलनेवाला है और जिसको परलोक का ख्याल नहीं, वह आदमी किसी भी पाप-कर्म को कर सकता है।

(१७७)

न [वे] कदरिया देवलोकं वजन्ति
बाला हवे नप्पसंसन्ति दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो
तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥११॥

कञ्जूस लोग देवलोक नहीं जाते, मूर्ख लोग दान की प्रशंसा नहीं करते; धैर्य्यवान् आदमी दान का अनुमोदन कर उसी (कर्म) से पर-लोक में सुखी होता है।

(१७८)

पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं ॥१२॥

अकेले पृथ्वी का राजा होने से, स्वर्ग जाने से, सभी लोकों का अधिपति होने से भी अधिक श्रेष्ठ है स्रोतापत्ति-फल।

———

१४—बुद्धवग्गो

(१७९)

यस्स जितं नावजीयति
जितमस्स नो याति कोचि लोके।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ? ॥ १ ॥

जिसकी जीत हार में परिणत नहीं हो सकती, जिसकी जीत को लोक में कोई नहीं पहुँचता, उस अपद अनन्त-ज्ञानी बुद्ध को तुम किस उपाय से अस्थिर कर सकोगे ?

(१८०)

यस्स जालिनी विसत्तिका
तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ? ॥ २ ॥

जिसे जाल फैलानेवाली विषयरूपी तृष्णा लोक में कहीं भी नहीं ले जा सकती, उस अपद अनन्तज्ञानी बुद्ध को तुम किस उपाय से अस्थिर कर सकोगे।

(१८१)

ये झाणपसुता धीरा नेक्खम्मूपसमे रता।
देवापि तेसं पिहयन्ति सम्बुद्धानं सतीमतं ॥ ३ ॥

जो धीर हैं, ध्यान में रत हैं, त्याग और उपशमन में लगे हैं, उन स्मृतिमान् बुद्धों की देवता भी प्रशंसा करते हैं।

(१८२)

किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्चानं जीवितं ।
किच्छं सद्धम्मसवणं किच्छो बुद्धानं उप्पादो ॥ ४ ॥

मनुष्य-योनि मुश्किल से मिलती है, मनुष्य-जीवन मुश्किल से बना रहता है, सद्धर्म का सुनना मुश्किल से मिलता है और बुद्धों का जन्म मुश्किल से होता है ।

(१८३)

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
स-चित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं ॥ ५ ॥

सब पापों का न करना, शुभ कर्मों का करना, चित्त को परिशुद्ध रखना यही है बुद्धों की शिक्षा ।

(१८४)

खन्ती परमं तपो तितिक्खा,
निब्बाणं परमं वदन्ति बुद्धा ।
नहि पब्बजितो परूपघाती,
समणो होति परं विहेठयन्तो ॥ ६ ॥

शान्ति और सहन-शीलता परं तप है, बुद्ध निर्वाण को परं श्रेष्ठ बतलाते हैं । दूसरे का घात करनेवाला प्रव्रजित नहीं होता । दूसरे को पीड़ा न देने वाला ही श्रमण होता है ।

(१८५)

अनूपवादो अनूपघातो पातिमोक्खे च संवरो ।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं पन्तञ्च सयनासनं ॥
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं ॥ ७ ॥

किसी की निन्दा न करना, किसी का घात न करना, भिक्षु-नियमों का पालन करना, उचित मात्रा में भोजन करना, एकान्त में सोना बैठना, चित्त को योग-अभ्यास में लगाना—यही है बुद्धों की शिक्षा।

(१८६)

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुक्खा कामा इति विञ्ञाय पण्डितो ॥ ८ ॥

(१८७)

अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो होति सम्मासम्बुद्धसावको ॥ ९ ॥

कार्षापणों की वर्षा होने से भी मनुष्य की कामनाओं की तृप्ति नहीं होती। सभी काम-भोग अल्प-स्वादवाले हैं, दुःखद हैं; यह जानकर पण्डित (जन) दिव्य काम-भोगों में भी रति नहीं करता और सम्यक् सम्बुद्ध का शिष्य तृष्णा के नाश करने में लगा रहता है।

(१८८)

बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च।
आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता ॥१०॥

(१८९)

नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥११॥

भय के मारे मनुष्य पर्वत, वन, उद्यान, वृक्ष, चैत्य आदि बहुत चीज़ों की शरण ग्रहण करते हैं। लेकिन यह शरण ग्रहण करना कल्याण-कर नहीं, उत्तम नहीं। इन शरणों को ग्रहण करके कोई सारे के सारे दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

(१९०)

यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति ॥१२॥

(१९१)

दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियञ्चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥१३॥

(१९२)

एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥१४॥

जो बुद्ध, धर्म, संघ की शरण ग्रहण करता है, जो चारों आर्य्य-सत्यों को भली प्रकार प्रज्ञा से देखता है—(१) दुःख, (२) दुख की उत्पत्ति, (३) दुःख का विनाश, (४) दुःख का उपशमन करनेवाला आर्य-अष्टांगिक-मार्ग—उसका यह शरण ग्रहण करना कल्याण-कर है, यही शरण उत्तम है। इस शरण को ग्रहण करके (मनुष्य) सब दुःखों से मुक्त होता है।

(१९३)

दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति।
यत्थ सो जायती धीरो तं कुलं सुखमेधति ॥१५॥

श्रेष्ठ पुरुष का जन्म दुर्लभ है, वह सब जगह पैदा नहीं होता। जिस कुल में वह धीर पैदा होता है, उस कुल में सुख की वृद्धि होती है।

(१९४)

सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो ॥१६॥

बुद्धों का पैदा होना सुख-कर है, सद्धर्म का उपदेश सुख-कर है, संघ में एकता का होना सुख-कर है, और सुख-कर है मिलकर तप करना।

(१९५)

पूजारहे पूजयतो बुद्धे यदि व सावके।
पपञ्चसमतिक्कन्ते तिण्णसोकपरिद्दवे ॥१७॥

(१९६)

ते तादिसे पूजयतो निब्बुते अकुतोभये।
न सक्का पुञ्ञं संखातुं इमेत्तमिति केनचि ॥१८॥

पूजनीय बुद्धों अथवा उनके शिष्यों—जो (संसार के) प्रपंच से छूट गये हैं, जो शोक भय को पार कर गये हैं—की पूजा के, या उन जैसे मुक्त और निर्भय (पुरुषों) की पूजा के पुण्य के परिमाण को "इतना है" करके कोई नहीं बता सकता।

१५—सुखवग्गो

(१९७)

सुसुखं वत! जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥ १ ॥

वैर करनेवाले मनुष्यों में अवैरी बने रहकर हम सुख पूर्वक जीते हैं। वैरी मनुष्यों में हम अवैरी बनकर विचरते हैं।

(१९८)

सुसुखं वत! जीवाम आतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ॥ २ ॥

रोगी मनुष्यों में रोग-रहित होकर हम सुखपूर्वक जीते हैं। रोगी मनुष्यों में हम स्वस्थ बनकर विचरते है।

(१९९)

सुसुखं वत! जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका ॥ ३ ॥

आसक्त मनुष्यों में अनासक्त बने रहकर हम सुख पूर्वक जीते हैं। आसक्त मनुष्यों में हम अनासक्त बनकर विचरते हैं।

(२००)

सुसुखं वत! जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा ॥ ४ ॥

जिन हम लोगों के पास कुछ नहीं, अहो! हम सुख पूर्वक जीते हैं। हम आभास्वर देवताओं की तरह प्रीति का ही भोजन करके रहेंगे।

(२०१)

जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं॥ ५॥

जय से वैर पैदा होता है, पराजित दुःखी रहता है। जय-पराजय दोनों को छोड़कर शान्त (-मनुष्य) सुख पूर्वक सोता है।

(२०२)

नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं॥ ६॥

राग के समान अग्नि नहीं, द्वेष के समान मल नहीं। पाँच-स्कन्धों (के समुदाय) के समान दुःख नहीं। शान्ति से बढ़कर सुख नहीं।

(२०३)

जिघच्छा परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बाणं परमं सुखं॥ ७॥

भूख सबसे बड़ा रोग है, संस्कार परम दुःख है, इस यथार्थ (बात) जाननेवाले को निर्वाण परम सुख है।

(२०४)

आरोग्य परमा लाभा सन्तुट्ठीपरमं धनं।
विस्सासपरमा ञाती निब्बाणं परमं सुखं॥ ८॥

नीरोग रहना परम लाभ है, सन्तुष्ट रहना परम धन, विश्वास सबसे बड़ा बन्धु है, निर्वाण सबसे बड़ा सुख।

(२०५)

पविवेकरसं पीत्वा रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं ॥ ९ ॥

एकान्त (-वास) तथा शान्ति के रस को पान कर आदमी निडर होता है और धर्म के प्रेम रस को पान कर निष्पाप।

(२०६)

साधु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया ॥१०॥

सत्पुरुषों का दर्शन करना अच्छा है, सत्पुरुषों की संगति सदा सुखकर है; और मूर्खों का दर्शन न होने से ही (आदमी) सदा सुखी रहता है।

(२०७)

बालसंगतचारी हि दीघमद्धानं सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा ॥
धीरो च सुखसंवासो ञातीनं 'व समागमो ॥११॥

मूर्खों की संगति करनेवाला दीर्घ काल तक शोक करता है, मूर्खों की संगति शत्रु की संगति की तरह सदा दुखदायी होती है; और धैर्य्यवानो की संगति बन्धुओं की संगति की तरह सुखदायी होती है।

(२०८)

तस्मा हि धीरं च पञ्ञञ्च बहुस्सुतं च
धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं
भजेथ नक्खत्तपथं'व चन्दिमा ॥१२॥

इसलिए धीर, प्राज्ञ, बहुश्रुत, उद्योगी, व्रती आर्य तथा सुबुद्ध सत्पुरुष की संगति करे; जैसे चन्द्रमा नक्षत्र पथ का (सेवन करता है)।

१६— पियवग्गो

(२०६)

अयोगे युञ्जमत्तानं योगस्मिञ्च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पियग्गाही पिहेत'त्तानुयोगिनं॥ १॥

अपने को उचित कार्य्य में न लगा, अनुचित में लगा, सदर्थ को छोड़कर प्रिय के पीछे भागनेवाले को आत्मानुयोगी की स्पृहा करनी होती है।

(२१०)

मा पियेहि समागञ्छि अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियानञ्च दस्सनं॥ २॥

प्रियों का साथ करो और अप्रियों का साथ कभी न करो। प्रियों का अदर्शन दुःखद होता है और अप्रियों का दर्शन।

(२११)

तस्मा पियं न कयिराथ पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति येसं नत्थि पियाप्पियं॥ ३॥

इसलिए (किसी को) प्रिय न बनावे, प्रिय का नाश बुरा (लगता) है; उनके (दिल में) गाँठ नहीं होती जिनके प्रिय-अप्रिय नहीं होते।

(२१२)

पियतो जायते सोको पियतो जायते भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं?॥ ४॥

प्रिय से शोक उत्पन्न होता है, प्रिय से भय। जो प्रिय से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा?

(२१३)

पेमतो जायते सोको पेमतो जायते भयं।
पेमतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं? ॥ ५ ॥

प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय। जो प्रेम से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा?

(२१४)

रतिया जायते सोको रतिया जायते भयं।
रतिया विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं? ॥ ६ ॥

राग से शोक उत्पन्न होता है, राग से भय। जो राग से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा?

(२१५)

कामतो जायते सोको कामतो जायते भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं? ॥ ७ ॥

काम (भोग) से शोक उत्पन्न होता है, काम से भय। जो काम से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा?

(२१६)

तण्हाय जायते सोको तण्हाय जायते भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं? ॥ ८ ॥

तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, तृष्णा से भय। जो तृष्णा से मुक्त है, उसे शोक नहीं, भय कहाँ से होगा?

(२१७)

सीलदस्सनसम्पन्नं धम्मट्ठं सच्चावादिनं ।
अत्तनो कम्म कुब्बानं तं जनो कुरुते पियं ॥ ९ ।

जो शीलवान् है, जो विद्वान् है, जो धर्म में स्थित है, जो सत्यवादी है, जो अपने काम को करनेवाला है, ऐसे (आदमी) को लोग प्यार करते हैं।

(२१८)

छन्दजातो अनक्खाते मनसा च फुटो सिया ।
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो उद्धंसोतो'ति वुच्चति ॥१०॥

जिसको निर्वाण की अभिलाषा है, जिसने उसे मन से स्पर्श किया है, जिसका चित्त काम-भोगों में संलग्न नहीं है, वह ऊर्ध्व स्रोता कहलाता है।

(२१९)

चिरप्पवासिं पुरिसं दूरतो सोत्थिमागतं ।
ञातिमित्ता सुहज्जा च अभिनन्दन्ति आगतं ॥११॥

(२२०)

तथेव कतपुञ्ञम्पि अस्मा लोका परं गतं ।
पुञ्ञानि पतिगण्हन्ति पियं ञातीव आगतं ॥१२॥

चिरकाल तक विदेश में रहकर सकुशल लौटने पर ज्ञाति, बन्धु और मित्र उसका अभिनन्दन करते हैं, इसी प्रकार पुण्य (-कर्मा) पुरुष के इस लोक से परलोक जाने पर, उसके पुण्य उसका स्वागत करते हैं, जैसे ज्ञाति-बन्धु अपने प्रिय व्यक्ति का ।

१७—कोधवग्गो

(२२१)

कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं
सञ्ञोजनं सब्बमतिक्कमेय्य ।
तं नाम-रूपस्मिं असज्जमानं
अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥ १ ॥

क्रोध को छोड़ दे, अभिमान को छोड़ दे, सब बन्धनों को पार कर जाय—ऐसे आदमी को जो नाम-रूप में आसक्त न हो, जो परिग्रह-रहित हो दुःख नहीं सताते ।

(२२२)

यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं'व धारये ।
तमहं सारथिं ब्रूमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥ २ ॥

जो आये क्रोध को उसी तरह रोक ले, जैसे कोई मार्ग-भ्रष्ट रथ को; उस आदमी को मैं (असली) सारथी कहता हूँ, दूसरे लोग तो केवल रस्सी पकड़ने वाले हैं ।

(२२३)

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ॥ ३ ॥

क्रोध को अक्रोध से, बुराई को भलाई से, कंजूस-पन को दान से और झूठ को सत्य से जीते ।

(२२४)

सच्चं भणे न कुज्भेय्य, दज्जा' प्पस्मिम्पि याचितो ।

एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके ॥ ४ ॥

सत्य बोले, क्रोध न करे, माँगने पर थोड़ा रहते भी दे । इन तीन बातों के करने से आदमी देवताओं के पास जाता है ।

(२२५)

अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता ।

ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥ ५ ॥

जो मुनि (जन) अहिंसक हैं, जो शरीर से सदा संयत रहते हैं वे उस पतन-रहित स्थान को प्राप्त होते हैं, जहाँ जाने पर शोक नहीं होता ।

(२२६)

सदा जागरमानानं अहोरत्तानुसिक्खिनं ।

निब्बाणं अधिमुत्तानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥ ६ ॥

जो सदा जागरूक रहते, जो रात-दिन सीखने में लगे रहते हैं, जो निर्वाण-प्राप्ति की ओर प्रयत्नशील हैं, उनके आश्रव अस्त हो जाते हैं ।

(२२७)

पोराणमेतं अतुल ! नेतं अज्जतनामिव ।

निन्दन्ति तुण्हीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनं ।

मितभाणिनम्पि निन्दन्ति

नत्थि लोके अनिन्दितो ॥ ७ ॥

हे अतुल ! यह पुरानी बात है, यह आज की नहीं । चुप बैठे रहनेवाले की भी निन्दा होती है, बहुत बोलनेवाले की भी निन्दा होती है, कम बोलनेवाले की भी निन्दा होती है, दुनिया में ऐसा कोई नहीं जिसकी निन्दा न हो ।

(२२८)

न चाहु न च भविस्सिति न चेतरहि विज्जति ।
एकन्तं निन्दितो पोसो एकन्तं वा पसंसितो ॥ ८ ॥

ऐसा आदमी जिसकी या तो बिल्कुल प्रशंसा ही प्रशंसा होती हो या निन्दा ही निन्दा; न हुआ, न है, न होगा ।

(२२९)

यञ्चे विञ्ञू पसंसन्ति अनुविच्च सुवे सुवे ।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं पञ्ञासीलसमाहितं ॥ ९ ॥

(२३०)

नेक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति ।
देवापि तं पसंसन्ति ब्रह्मुणाऽपि पसंसितो ॥१०॥

जिस आदमी की प्रशंसा विज्ञ लोग सोच विचार कर रोज रोज करें, उस दोष-रहित मेधावी, प्रज्ञा शील से युक्त, जाम्बुनद की अशर्फी के समान आदमी को निन्दा कौन कर सकता है ? देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं, और ब्रह्मा द्वारा भी वह प्रशंसित होता है ।

(२३१)

कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया ।
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥११॥

काय की चंचलता से बचा रहे । काय का संयम रक्खे । शारीरिक दुश्चरित्र को छोड़कर शरीर से सदाचरण करे ।

(२३२)

वचीपकोपं रक्खेय्य वाचाय संवुतो सिया ।
वचीदुच्चरितं हित्वा वाचाय सुचरितं चरे ॥१२॥

वाणी की चंचलता से बचे। वाणी का संयम रक्खे। वाणी का दुश्चरित्र छोड़कर वाणी का सदाचरण करे।

(२३३)

मनोपकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरे ॥१३॥

मन की चञ्चलता से बचे। मन का संयम रक्खे। मन का दुश्चरित्र छोड़कर मानसिक सदाचरण करे।

(२३४)

कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता ॥१४॥

जो काय से संयत हैं, जो वाणी से संयत हैं, जो मन से संयत हैं, वे ही अच्छी तरह से संयत कहे जा सकते हैं।

१८—मलवग्गो

(२३५)

पण्डुपलासो'व दानिसि, यमपुरिसापि च ते उपट्ठिता।
उय्योगमुखे च तिट्ठसि पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ॥ १ ॥

इस वक्त तू पीले-पत्ते के समान है, तेरे पास यम-दूत आ खड़े हैं, तेरे प्रयाण की तैयारी है; और तेरे पास पाथेय भी नहीं है।

(२३६)

सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो दिब्बं अरियभूमिमेहिसि ॥२ ॥

इसलिए अपना द्वीप बना, जल्दी उद्योग करके पण्डित बन; मल-रहित, दोष-रहित होकर तू दिव्य आर्य-भूमि को प्राप्त करेगा।

(२३७)

उपनीतवयो च दानिसि
सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके।
वासोपि च ते नत्थि अन्तरा
पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ॥ ३ ॥

तेरी आयु समाप्त हो गई, तू यम के पास पहुँच गया है, तेरे लिए रास्ते में निवास-स्थान भी नहीं है और तेरे पास पाथेय भी नहीं है।

(२३८)

सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥४॥

इसलिए अपना द्वीप बना जल्दी उद्योग करके पण्डित बन, मल-रहित, दोष-रहित होकर तू जन्म और बुढ़ापे के बन्धन में नहीं पड़ेगा।

(२३९)

अनुपुब्बेन मेधावी थोकथोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव निद्धमे मलमत्तनो ॥ ५ ॥

जिस प्रकार सुनार चाँदी के मल को दूर करता है, उसी प्रकार मेधावी (पुरुष) प्रतिक्षण थोड़ा-थोड़ा करके अपने दोषों को दूर करे।

(२४०)

अयसा'व मलं समुट्ठितं
तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं
सककम्मानि नयन्ति दुग्गतिं ॥ ६ ॥

लोहे से उत्पन्न मोर्चा लोहे से पैदा होकर लोहे को ही खा डालता है। उसी प्रकार अति चञ्चल (मनुष्य) के अपने ही कर्म उसे दुर्गति को ले जाते हैं।

(२४१)

असज्झायमला मन्ता अनुट्ठानमला घरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं पमादो रक्खतो मलं ॥ ७ ॥

आवृत्ति न करना (वेद-) मन्त्रों का मल (=मोर्चा) है, मरम्मत न करना घरों का मल (=मोर्चा) है, आलस्य (शरीर के) सौन्दर्य का मल (= मोर्चा) है और असावधानी पहरेदार का मल (=मोर्चा) है।

(२४२)

मलित्थिया दुच्चरितं मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा अस्मिं लोके परम्हि च ॥ ८ ॥

दुश्चरित्र होना स्त्री का मोर्चा है, कंजूस होना दाता का मोर्चा है, और पाप-कर्म इस लोक तथा परलोक में मोर्चा है।

(२४३)

ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं।
एतं मलं पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो ॥ ९ ॥

लेकिन इन सब मलों से बढ़कर मल है—अविद्या। भिक्षुओ! इस मल को छोड़कर निर्मल बनो।

(२४४)

सुजीवं अहिरीकेन काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन संकिलिट्ठेन जीवितं ॥१०॥

(पाप के प्रति) निर्लज्ज, कौवे के समान छीनने में शूर, (परहित-) विनाशक, पतित, उच्छृङ्खल और मलिन बनकर जीवन व्यतीत करना आसान है।

(२४५)

हिरीमता च दुज्जीवं निच्चं सुचिगवेसिना।
अलीलेनऽप्पगब्भेन सुद्धाजीवेन पस्सता ॥११॥

लेकिन (पाप के प्रति) लज्जाशील, नित्य ही पवित्रता का विचार करते हुये, आलस्य-रहित, उछृङ्खलता-रहित शुद्ध-आजीविका के साथ, विचारवान् बनकर जीवन व्यतीत करना कठिन है।

(२४६)

योपाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति ॥१२॥

(२४७)

सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो ॥१३॥

जो हिंसा करता है, जो झूठ बोलता है, जो चोरी करता है, जो पराई स्त्री के पास जाता है और जो मद्यपान करता है, वह आदमी यहीं इसी लोक में अपनी जड़ खोदता है।

(२४८)

एवं भो पुरिस! जानाहि पापधम्मा असञ्ञता।
मा तं लोभो अधम्मो च चिरं दुक्खाय रन्धयुं ॥१४॥

हे पुरुष, इसलिए ऐसा जान कि असंयत(जन)पापी (होते हैं) तुझे लोभ और अधर्म चिरकाल तक दुःख में न राँधे।

(२४९)

ददन्ति वे यथासद्धं यथापसादनं जनो।
तत्थ यो मंकु भवति परेसं पानभोजने।
न सो दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥१५॥

लोग अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रसन्नता के अनुसार दान देते हैं, जो दूसरों के खाने-पीने में असन्तोष प्रकट करता है, उसको न रात को शान्ति प्राप्ति होती है न दिन को।

(२५०)

यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं।
स वे दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥१६॥

(लेकिन) जिसमें से यह (भाव) जड़ मूल से जाता रहा है वह रात को भी, दिन को भी, सदा शान्ति से रहता है।

(२५१)

नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो।
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हासमा नदी ॥१७॥

राग के समान आग नहीं, द्वेष के समान ग्रह नहीं, मोह के समान जाल नहीं और तृष्णा के समान नदी नहीं।

(२५२)

सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुसं।
अत्तनो पन छादेति कलिं 'व कितवा सठो ॥१८॥

दूसरों के दोष देखना आसान है, अपने दोष देखना कठिन। (आदमी) दूसरों के दोषों को तो भुस की भांति उड़ता है किन्तु अपने दोषों को ऐसे ढकता है जैसे बेईमान जुवारी पासे को।

(२५३)

परवज्जानुपस्सिस्स निच्चं उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति आरा सो आसवक्खया ॥१६॥

दूसरों के ही दोष देखते फिरनेवाले के, सदा चिढ़ते रहनेवाले के आश्रव बढ़ते हैं। ऐसे आदमी के आश्रव बढ़ते हैं। ऐसा आदमी आश्रवों के क्षय से दूर है।

(२५४)

आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।
पपञ्चाभिरता पजा निप्पपञ्चा तथागता ॥२०॥

आकाश में चिह्न नहीं; (आर्य-अष्टांगिक-मार्ग से) बाहर श्रमण नहीं। लोग प्रपंच में लगे रहते हैं। तथागत प्रपंच-हीन हैं।

(२५५)

आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।
सङ्खारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं ॥२१॥

आकाश में चिह्न नहीं, (आर्य अष्टांगिक-मार्ग से) बाहर श्रमण नहीं। संस्कार नित्य नहीं हैं और बुद्धों में अस्थिरता नहीं।

१६—धम्मट्ठवग्गो

(२५६)

न तेन होति धमट्ठो येनत्थं साहसा नये।
यो च अत्थं अनत्थञ्च उभो निच्छेय्य पण्डितो ॥ १ ॥

(२५७)

असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठो'ति पवुच्चति ॥ २ ॥

जो आदमी सहसा किसी बात का निश्चय कर दे, वह धर्म-स्थित नहीं कहलाता। जो पण्डित-जन अर्थ, अनर्थ दोनों का अच्छी तरह विचार कर, धीरज के साथ, निष्पक्ष होकर न्याय करता है, वही मेधावी धर्म-स्थित कहलाता है।

(२५८)

न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो'ति पवुच्चति ॥ ३ ॥

बहुत बोलने से पण्डित नहीं होता। जो क्षेमवान् अवैरी और निर्भय होता है, वही पण्डित कहलाता है।

(२५९)

न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति।
यो च अप्पम्पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति।
स वे धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति ॥ ४ ॥

बहुत बोलने भर से धर्मधर नहीं होता। थोड़ा भी धर्म सुनकर जो काय से उसके अनुसार आचरण करता है, और जो धर्म में प्रमाद नहीं करता, वही धर्मधर है।

(२६०)

न तेन थेरो होति येन'स्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो'ति वुच्चति ॥ ५ ॥

शिर के बाल पकने मात्र से कोई स्थविर नहीं होता, उसकी आयु पक गई रहती है, वह व्यर्थ में वृद्ध हुआ कहलाता है।

(२६१)

यम्हि सच्चञ्च धम्मो च अहिंसा सञ्ञमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो थेरो 'ति पवुच्चति ॥ ६ ॥

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम हैं, वही विगतमल, धीर स्थविर कहलाता है।

(२६२)

न वाक्करणमत्तेन वण्णपोक्खरताय वा।
साधुरूपो नरो होति इस्सुकी मच्छरी सठो ॥ ७ ॥

(२६३)

यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं।
स वन्तदोसो मेधावी साधुरूपो 'ति वुच्चति ॥ ८ ॥

(यदि) वह ईर्ष्यालु, मत्सरी और शठ हो, तो वक्ता होने से, वा सुन्दर रूप होने से आदमी साधु-रूप नहीं होता। जिस आदमी के यह दोष जड़-मूल से नष्ट हो गये हैं, जो दोष-रहित है, जो मेधावी है, वही साधु-रूप कहलाता है।

(२६४)

न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ॥ ९ ॥

(२६५)

यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं समणो'ति पवुच्चति ॥१०॥

जो व्रत-हीन है जो मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा-लोभ से भरा (मनुष्य) क्या श्रमण बनेगा ? जो सब छोटे-बड़े पापों का शमन करता है, उसे पापों का शमन-कर्ता होने के कारण से श्रमण कहते हैं।

(२६६)

न तेन भिक्खू [सो] होति यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खू होति न तावता ॥११॥

दुराचरण-युक्त मनुष्य दूसरों से भीख माँगनेवाला होने (मात्र) से भिक्षु नहीं होता।

(२६७)

योऽध पुञ्ञञ्च पापञ्च बाहित्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति स वे भिक्खू'ति वुच्चति ॥१२॥

जो पुण्य और पाप से परे हो गया है, जो ब्रह्मचारी है, जो ज्ञान-पूर्वक लोक में विचरता है, वह भिक्षु है।

(२६८)

न मोनेन मुनी होति मुल्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं' व पग्गय्ह वरमादाय पण्डितो ॥१३॥

(२६६)

पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनि।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥१४॥

मूढ़ और अविद्वान् केवल मौन रहने से मुनि नहीं होता। जो पण्डित तुला की भांति तोलकर, उत्तम तत्त्व को ग्रहण कर पापों को त्यागता है, वही असली मुनि है। जो दोनों लोकों का मनन करता है, वही मुनि होता है।

(२७०)

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति ॥१५ ॥

प्राणियों की हिंसा करने से कोई आदमी आर्य नहीं होता, जो किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, वही आर्य होता है।

(२७१)

न सीलब्बतमत्तेन बाहुसच्चेन वा पुन।
अथवा समाधिलाभेन विविच्चसयनेन वा ॥१६॥

(२७२)

फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुज्जनसेवितं।
भिक्खु! विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं ॥१७॥

भिक्षुओ! शीलवान् होने से, व्रती होने से, बहुश्रुत होने से, समाधि लाभी होने से वा एकान्तवासी होने मात्रसे यह विश्वास न कर लो कि मैं जनों से असेवित नैष्कर्म्य-सुख का आनन्द ले रहा हूँ। जब तक आश्रवक्षय (चित्त-मलो का त्याग) न कर लो, तब तक चैन न लो।

२०—मग्गवग्गो

(२७३)

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा ।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानञ्च चक्खुमा ॥ १ ॥

मार्गों में अष्टांगिक-मार्ग श्रेष्ठ है, सत्यों में चार आर्य सत्य श्रेष्ठ है, धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है, और चक्षुमान् (=बुद्ध) श्रेष्ठ हैं ।

(२७४)

एसो'व मग्गो नत्थ'ञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया ।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं ॥ २ ॥

ज्ञान की प्राप्ति के लिए यही (एक) मार्ग है, दूसरा नहीं । भिक्षुओ! तुम इसी रास्ते पर चलो । यह मार को मूर्छित करने वाला है ।

(२७५)

एतं हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्सन्तं करिस्सथ ।
अक्खातो वे मया मग्गो अञ्ञाय सल्लसन्थनं ॥ ३ ॥

इस मार्ग पर चलने से तुम दुःख का अंत कर सकोगे । संसार-दुःख को शल्य-समान स्वयं जानकर मैंने यह मार्ग कहा है ।

(२७६)

तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता ।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना ॥ ४ ॥

तुम्हें ही कृत्य करना है, तथागत तो केवल (मार्ग) बतलाने-वाले हैं। इस मार्ग पर आरूढ़ होकर ध्यान करनेवाले मार-बन्धन से मुक्त होंगे।

(२७७)

सब्बे सङ्खारा अनिच्च 'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दन्ति दुक्खे, एसमग्गो विसुद्धिया ॥ ५ ॥

सभी संस्कार (बनी चीज़ें) अनित्य हैं—जब इस बात को प्रज्ञा से देखता है तब आदमी को संसार से विराग होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।

(२७८)

सब्बे सङ्खारा दुक्खा 'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एसमग्गो विसुद्धिया ॥ ६ ॥

सभी संस्कार दुःख हैं—जब इस बात को प्रज्ञा से देखता है तब आदमी को संसार से विराग पैदा होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।

(२७९)

सब्बे धम्मा अनत्ता 'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥ ७ ॥

सभी धर्म (=पदार्थ) अनात्म है—जब इस बात को प्रज्ञा से देखता है तब आदमी को संसार से विराग होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।

(२८०)

उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो
युवा बली आलसियंउपेतो।

संसन्नसङ्कप्पमनो कुसीतो
पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति ॥ ८ ॥

जो उद्योग नहीं करता, युवा और बली होकर (भी) आलस्य से युक्त है, जिसका मन व्यर्थ के संकल्पों से भरा है—ऐसा आलसी आदमी प्रज्ञा के मार्ग को नहीं प्राप्त कर सकता।

(२८१)

वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो
कायेन च अकुसलं न कयिरा।
एते तयो कम्मपथे विसोधये
आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥ ९ ॥

जो वाणी की रक्षा करता है, जो मन से संयमी है, जो शरीर से पाप-कर्म नहीं करता है; जो इन तीनों कर्मेन्द्रियों को शुद्ध रखता है वही बुद्ध के बतलाये धर्म का सेवन कर सकता है।

(२८२)

योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरिसङ्खयो।
एतं द्वेधापथं ञत्वा भवाय विभवाय च।
तथ'त्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवड्ढति ॥१०॥

योग (=अभ्यास) से ज्ञान बढ़ता है, योग न करने से ज्ञान का क्षय होता है। उत्पत्ति और विनाश के इस दो प्रकार के मार्ग को जानकर अपने आपको वैसे रक्खे, जिससे ज्ञान की वृद्धि हो।

(२८३)

वनं छिन्दथ मा रुक्खं वनतो जायती भयं।
छेत्वा वनञ्च वनथञ्च निब्बना होथ भिक्खवो ॥११॥

वन को काटो, वृक्ष को मत काटो। भय वन से पैदा होता है। हे भिक्षुओ! वन और झाड़ी को काटकर निर्वाण प्राप्त करो।

(२८४)

यावं हि वनथो न छिज्जति अनुमत्तोपि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो नु ताव सो वच्छो खीरपको'व मातरि ॥१२॥

जब तक स्त्री में पुरुष की अणु मात्र भी कामना बनी रहती है, तब तक वह वैसे ही बँधा रहता है जैसे दूध पीने वाला बछड़ा अपनी माँ से।

(२८५)

उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं'व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय निब्बानं सुगतेन देसितं ॥१३॥

जिस तरह हाथ से शरद् (ऋतु) के कुमुद को तोड़ा जाता है, उसी तरह अपने (दिल से) स्नेह को उच्छिन्न कर दे; और सुगत द्वारा उपदिष्ट शान्ति-मार्ग निर्वाण का अनुसरण करे।

(२८६)

इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमन्तगिम्हिसु।
इति बालो विचिन्तेति अन्तरायं न बुज्झति ॥१४॥

यहाँ वर्षा-वास करूँगा, यहाँ हेमन्त में रहूँगा, यहाँ ग्रीष्म-ऋतु में, मूर्ख इस प्रकार सोचता है, विघ्न को नहीं देखता।

(२८७)

तं पुत्तपसुसम्मत्तं ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो'व मच्चु आदाय गच्छति ॥१५॥

पुत्र और पशु में आसक्त (-चित्त) मनुष्य को मृत्यु वैसे ही ले जाती है, जैसे सोये गाँव को (नदी की) बड़ी बाढ़।

(२८८)

न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता नापि बन्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स नत्थि ञातिसु ताणता ॥१६॥

न पुत्र रक्षा कर सकते हैं, न पिता, न रिश्तेदार। जब मृत्यु पकड़ती है, तो रिश्तेदार नहीं बचा सकते।

(२८९)

एतमत्थवसं ञत्वा पण्डितो सीलसंवुतो।
निब्बाण-गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये ॥१७॥

इस बात को जानकर शीलवान् पण्डित (जन) को चाहिये कि निर्वाण की ओर जानेवाले मार्ग को शीघ्र साफ़ करे।

———

२१ —पकिराणकवग्गो

(२९०)

मत्तासुखपरिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं।

चजे मत्तासुखं धीरो सम्पस्सं विपुलं सुखं॥ १॥

थोड़े से सुख के परित्याग से यदि बहुत सुख की प्राप्ति होती दिखाई दे तो बुद्धिमान् आदमी को चाहिये कि बहुत सुख का ख्याल करके थोड़े सुख को छोड़ दे।

(२९)

परदुक्खूपदानेन यो अत्तनो सुखमिच्छति।

वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न पमुच्चति॥ २॥

दूसरे को दुःख देकर जो अपने लिए सुख चाहता है, वैर के संसर्ग में आया हुआ वह वैर से मुक्त नहीं होता।

(२९२)

यं हि किच्चं तदपविद्धं अकिच्चं पन कयिरति।

उन्नलानं पमत्तानं तेसं वड्ढन्ति आसवा॥ ३॥

जो कर्तव्य है उसे न करनेवाले, जो अकर्तव्य है उसे करनेवाले मल-युक्त प्रमादी जनों के आश्रव (= चित्त के मल) बढ़ते हैं।

(२९३)

येसञ्च सुसमारद्धा निच्चं कायगता सति।

अकिच्चं ते न सेवन्ति किच्चे सातच्चकारिनो।

सतानं सम्पजानानं अत्थं गच्छन्ति आसवा॥ ४॥

जिनकी कायानुस्मृति नित्य उपस्थित है, वह अकर्तव्य को नहीं करते, कर्तव्य को निरन्तर करते हैं। ऐसे स्मृतिमान और सचेत लोगों के आस्रव क्षय को प्राप्त होते हैं।

(२९४)

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥ ५ ॥

तृष्णा (=माता), अहंकार (=पिता) आत्म-दृष्टि तथा उच्छेद-दृष्टि (=दो क्षत्रिय राजाओं), राग (=अनुचर), और पाँच उपादन स्कंध (=राष्ट्र) का हनन करके ब्राह्मण निष्पाप होता है।

(२९५)

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥ ६ ॥

तृष्णा (=माता), अहंकार (=पिता), आत्म-दृष्टि तथा उच्छेद-दृष्टि (=दो श्रोत्रिय राजाओं) और ज्ञान के पाँच आवरणों (=व्याघ्र) का हनन करके ब्राह्मण निष्पाप होता है।

(२९६)

सुप्पबुद्धं पुबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं बुद्धगता सति ॥ ७ ॥

जिनकी दिन-रात बुद्ध-विषयक स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरूक रहते हैं।

(२९७)

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतम सावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं धम्मगता सति ॥ ८ ॥

जिनकी दिन-रात धर्म-विषयक स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरूक रहते हैं ।

(२९८)

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं सङ्घगता सति ॥ ९ ॥

जिनकी दिन-रात संघ-विषयक स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरूक रहते हैं ।

(२९९)

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं कायगता सति ॥१०॥

जिनकी दिन-रात काय-स्मृति बनी रहती है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरूक रहते है ।

(३००)

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च अहिंसाय रतो मनो ॥११॥

जिनका मन दिन-रात अहिंसा में रत रहता है, गौतम (बुद्ध) के वह शिष्य खूब जागरूक रहते हैं ।

(३०१)

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च भावनाय रतो मनो ॥१२॥

जिनका मन दिन-रात योग-अभ्यास (=भावना) में रत रहता है, गौतम के वह शिष्य खूब जागरूक होते हैं ।

(३०२)

दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं दुरावासा घरा दुखा।
दुक्खो समानसंवासो दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न च अद्धगू सिया न च दुक्खानुपतितो सिया ॥१३॥

प्रव्रज्या में रत होना दुष्कर है, गृहस्थ में रहना दुःखकर है, असमान लोगों के साथ रहना दुःखकर है, आवागमन में पड़ना भी दुःखकर है। इसलिए न मार्ग में पड़े, न दुःख में गिरे।

(३०३)

सद्धो सीलेन सम्पन्नो यसोभोगसमप्पितो।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो ॥१४॥

जो श्रद्धावान् है, जो सदाचारी है, जो यशस्वी है, जो सम्पत्तिशाली है वह जहाँ जहाँ जाता है वहीं वहीं सत्कार पाता है।

(३०४)

दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तोव पब्बता।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति रत्तिखित्ता यथा सरा ॥१५॥

सत्पुरुष हिमालय-पर्वत की तरह दूर से प्रकाशित होते हैं, असत्पुरुष रात में फेंके बाण की तरह दिखाई नहीं देते।

(३०५)

एकासनं एकसेय्यं एकोचरमतन्दितो।
एको दमयमत्तानं वनन्ते रमितो सिया ॥१६॥

एकासन, एक शय्यावाला, आलस्य-रहित (हो) अकेला विचरने वाला अपने आपको अकेला दमन करनेवाला वन में आनन्द से रहता है।

२२—निरयवग्गो

(३०६)

अभूतवादी निरयं उपेति यो चापि
कत्त्वा 'न करोमी' ति चाह।
उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति
निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ॥ १ ॥

असत्यवादी नरक में जाता है, जो करके 'नहीं किया' कहता है, वह भी नरक में जाता है। दोनों ही प्रकार के नीच कर्म करनेवाले मरकर बराबर हो जाते हैं।

(३०७)

कासावकण्ठा बहवो पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि निरयन्ते उप्पज्जरे ॥ २ ॥

कंठ में काषाय-वस्त्र डाले कितने ही असंयमी पापी हैं। वह पापी अपने पाप - कर्मों के कारण नरक में उत्पन्न होते हैं।

(३०८)

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥ ३ ॥

दुराचारी असंयमी हो देश का अन्न (राष्ट्र-पिण्ड) खाने से अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है।

(३०९)

चत्तारी ठानानि नरो पमत्तो
आपज्जती परदारूपसेवी।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं
निन्दं ततियं निरयं चतुत्थं ॥ ४ ॥

(३१०)

अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका,
भीतस्स भीताय रती च थोकिका।
राजा च दण्डं गरुकं पणेति
तस्मा नरो परदारं न सेवे ॥ ५ ॥

प्रमादी, परस्त्रीगामी मनुष्य की चार गतियाँ होती हैं—अपुण्य-लाभ, सुख से निद्रा का न आना, निन्दा और नरक। (अथवा) अपुण्य-लाभ, दुर्गति, भयभीत (पुरुष) की भयभीत (स्त्री) से अत्यल्प रति, राजा का भारी सजा देना—इसलिए मनुष्य पर-स्त्रीगमन न करे।

(३११)

कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थमेवानुकन्तति।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरयायुपकड्ढति॥ ६ ॥

जिस प्रकार कुश यदि उसे ठीक से न ग्रहण करे तो हाथ छेद देता है, उसी प्रकार संन्यास (=श्रामण्य) यदि उसे ठीक से न पालन करे तो नरक में ले जाता है।

(३१२)

यं किञ्चि सिथिलं कम्मं सङ्किलिट्ठं च यं वतं।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं न तं होति महप्फलं ॥ ७ ॥

जो कार्य ढीला-ढाला है, जो व्रत मल-युक्त है, जो ब्रह्मचर्य्य अशुद्ध है, उसका महान् फल नहीं होता।

(३१३)

कयिरञ्चे कयिराथेनं दळ्हमेनं परक्कमे।
सिथिलोहि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं ॥ ८ ॥

यदि किसी काम को करना है, तो करे, उसमें दृढ़ पराक्रम के साथ जुट जावे। ढीला-ढाला संन्यासी अधिक धूल उड़ाता है।

(३१४)

अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं।
कतञ्च सुकतं सेय्यो यं कत्त्वा नानुतप्पति ॥ ९ ॥

पाप का न करना अच्छा, पाप करनेवाले को अनुताप होता है; शुभ-कर्म का करना अच्छा, शुभ कर्म करनेवाले को अनुताप नहीं होता।

(३१५)

नगरं यथा पच्चन्तं गुत्तं सन्तरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं खणो वे मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति निरयम्हि समप्पिता ॥१०॥

जैसे सीमान्त देश का गढ़ (= नगर) अन्दर बाहर से सुरक्षित होता है, उसी तरह से अपनी सँभाल करे—एक क्षण भी न जाने दे। समय (हाथ से चले) जाने पर नरक में पड़कर शोक करना होता है।

(३१६)

अलज्जिता ये लज्जन्ति लज्जिता ये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥११॥

अलज्जा (के काम) में जो लज्जा करते हैं, लज्जा के काम में जो लज्जा नहीं करते ऐसे झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

(३१७)

अभये च भयदस्सिनो भये च अभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१२॥

अभय (के स्थान) में जो भय करते हैं, भय में जो भयरहित रहते हैं—ऐसे झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

(३१८)

अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१३॥

अदोष को जो दोष समझते हैं, दोष को जो अदोष समझते हैं—ऐसे झूठी धारणावाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

(३१९)

वज्जञ्च वज्जतो ञत्वा अवज्जञ्च अवज्जतो।
सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ॥१४॥

दोष को जो दोष करके जानते हैं, अदोष को अदोष, ऐसे ठीक धारणावाले प्राणी सुगति को प्राप्त होते हैं।

———

२३—नागवग्गो

(३२०)

अहं नागो'व सङ्गामे चापतो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो ॥१॥

जैसे युद्ध में हाथी धनुष से गिरे बाण को सहन करता है, वैसे ही मैं कटुवाक्यों को सहूँगा (क्योंकि) संसार में दुर्जन बहुत हैं।

(३२१)

दन्तं नयन्ति समितिं दन्तं राजाभिरूहति।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु यो तिवाक्यं तितिक्खति ॥ २ ॥

शिक्षित (हाथी) को युद्ध में ले जाते हैं, शिक्षित हाथी पर राजा चढ़ता है, मनुष्यों में शिक्षित (मनुष्य) श्रेष्ठ है जो कटुवाक्यों को सह सकता है।

(३२२)

वरं अस्सतरा दन्ता आजानीया च सिन्धवा।
कुञ्जरा च महानागा अत्तदन्ता ततो वरं ॥ ३ ॥

खच्चर, आजानीय (= अच्छे खेत के) सिन्धी घोड़े और महानाग हाथी शिक्षित हों तो श्रेष्ठ हैं—आदमी शिक्षित हो तो इन सबसे श्रेष्ठ है।

(३२३)

न हि एतेहि यानेहि गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथाऽत्तना सुदन्तेन दन्तो दन्तेन गच्छति ॥ ४ ॥

इन (घोड़े, गाड़ी आदि) वाहनों से कोई निर्वाण को नहीं जा सकता, जैसे अभ्यासी स्वयं जा सकता है। शिक्षित (मनुष्य) संयत इन्द्रियों द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

(३२४)

धनपालको नाम कुञ्जरो कटकप्पभेदनो दुन्निवारयो।
बद्धो कवलं न भुञ्जति सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो ॥५॥

सेना को तितर बितर कर देनेवाला, धनपालक नाम का दुर्धर्ष हाथी (आज) बन्धन में बँधा होने से कवल नहीं खाता; अपने हाथियों के जंगल की याद करता है।

(३२५)

मिद्धी यदा होति महग्घसो च निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो'व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो॥६॥

जो आलसी, बहुत खानेवाला, निद्रालु, करवट बदल बदल कर सोनेवाला, दाना खाकर पले मोटे सूअर की भाँति होता है, वह मन्द-मति बार बार गर्भ में पड़ता है।

(३२६)

इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं
येनिच्छकं यत्थ कामं यथासुखं।
तदज्ज'हं निग्गहेस्सामि योनिसो
हत्थिप्पभिन्नं विय अंकुसग्गहो ॥ ७ ॥

पहले यह चित्त जहाँ इसकी इच्छा हुई, यथा-काम यथा-सुख विचरा; लेकिन आज मैं इसे अच्छी तरह काबू में करूँगा, जैसे महावत मस्त हाथी को।

(३२७)

अप्पमादरता होथ स, चित्तमनुरक्खथ ।
दुग्गा उद्धरथ-त्तानं पङ्के सत्तो व कुञ्जरो ॥ ८ ॥

जागरूक रहो, अपने मन को संभाल कर रक्खो। पङ्क में फँसे हाथी की तरह अपने आप को (राग आदि के) गढ़े में से निकालो।

(३२८)

सचे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारि धीरं ।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि
चरेय्य तेन, त्तमनो सतीमा ॥ ९ ॥

यदि परिपक्व (बुद्धि) सच्चरित्र साथी मिले, तो सब विघ्नों को हटाकर सचेत प्रसन्न-चित्त हो उसके साथ विचरे।

(३२९)

नो चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारि धीरं
राजा 'व रट्ठं विजितं पहाय
एको चरे मातङ्ग'रञ्ञेव नागो ॥१०॥

लेकिन यदि परिपक्व (बुद्धि) सच्चरित्र साथी न मिले तो जैसे पराजित राष्ट्र को छोड़ राजा (या) जंगल में हाथी अकेला विचरता है, उसी तरह अकेला विचरे।

(३३०)

एकस्स चरितं सेय्यो नत्थि बाले सहायता
एको चरे न च पापानि कयिरा
अप्पोस्सुक्को मातङ्ग 'रञ्ञे 'व नागो ॥११॥

अकेले विचरना अच्छा है, मूर्ख की मित्रता अच्छी नहीं। अनासक्त मातङ्गराज हाथी की भाँति अकेला विचरे, पाप न करे।

(३३१)

अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया
तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसङ्खयम्हि
सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहाणं ॥१२॥

काम पड़ने पर मित्र सुखकर हैं, जिस तिस चीज़ से सन्तुष्ट रहना सुखकर है, जीवन के क्षय होने के समय पुण्य सुखकर हैं, लेकिन सबसे बढ़कर सुखकर है सारे दुःखों का नाश।

(३३२)

सुखा मत्तेय्यता लोके अथो पेत्तेय्यता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥१३॥

संसार में मातृ-सेवा सुखकर है और सुखकर है पितृ-सेवा। संसार में श्रमणत्व (संन्यास) सुखकर है और सुखकर है निष्पाप होना (ब्रह्मणत्व)।

(३३३)

सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं ॥१४॥

बुढ़ापे तक सदाचारी रहना सुखकर है, स्थिर-श्रद्धा सुखकर है, प्रज्ञा की प्राप्ति सुखकर है और सुखकर है पापों का न करना।

२४—तण्हावग्गो

(३३४)

मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा वड्ढति मालुवा विय।
सो फलवती हुराहुरं फलमिच्छं व वनस्मिं वानरो ॥१॥

प्रमादी मनुष्य की तृष्णा मालुवा (लता) की भाँति बढ़ती है। फल की इच्छा करता हुआ वह बन में बानर की तरह दिनों दिन भटकता है।

(३३५)

यं एसा सहती जम्मि तण्हा लोके विसत्तिका।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवड्ढं व बीरणं॥ २॥

जिसे यह बराबर जनमते रहनेवाली विषरूपी तृष्णा पकड़ती है, वर्धनशील वीरण की भाँति उसके शोक बढ़ते हैं।

(३३६)

यो चेतं सहती जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति उदबिन्दूव पोक्खरा॥ ३॥

लेकिन जो इस बराबर जनमते रहनेवाली दुर्जय तृष्णा को जीतता है, उसके शोक वैसे ही गिर जाते हैं, जैसे कमल (पत्र) से जल-बिन्दु।

(३३७)

तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ उसीरत्थोव बीरणं॥ ४॥

इसलिए जितने यहाँ आए हो, तुम्हें कहता हूँ—तुम्हारा मंगल हो। जिस प्रकार खस का चाहनेवाला वीरण घास को उखाड़ता है, उसी प्रकार तुम तृष्णा की जड़ खोद दो।

(३३८)

यथापि मूले अनुपद्दवे दळ्हे
छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रूहति।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते
निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुनं ॥ ५ ॥

जिस प्रकार—जब तक जड़ पूरी तरह नहीं उखड़ जाती तब तक कटा हुआ भी वृक्ष उग आता है, उसी प्रकार जब तक तृष्णारूपी अनुशय पूरी तरह नष्ट नहीं हो जाते, तब तक बार बार दुःख पैदा होता रहता है।

(३३९)

यस्स छत्तिंसती सोता मनापस्सवना भुसा।
बाहा वहन्ति दुद्दिट्ठिं सङ्कप्पा रागनिस्सिता ॥ ६ ॥

जिस आदमी के छत्तीस स्रोत, मन को अच्छी लगनेवाली चीज़ों की ही ओर जाते हों, उस झूठी धारणा वाले आदमी को उसके रागाश्रित संकल्प बहाकर ले जाते हैं।

(३४०)

सवन्ति सब्बधि सोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति।
तञ्च दिस्वा लतं जातं मूलं पञ्ञाय छिन्दथ ॥ ७ ॥

स्रोत चारों ओर बहते हैं। लता अंकुरित रहती है। उस (तृष्णा-रूपी) लता को उत्पन्न हुआ देख प्रज्ञा से उसकी जड़ को काटो।

(३४१)

सरितानि सिनेहितानि च
सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो ।
ते सोतसिता सुखेसिनो
ते वे जातिजरूपगा नरा ॥ ८ ॥

नदियाँ स्निग्ध हैं और प्राणियों के चित्त को अच्छी लगती हैं। इन (नदियों) के बन्धन में बँधे नर भोगों को खोजते हैं, और जाति तथा जरा के फेर में पड़ते हैं।

(३४२)

तसिनाय पुरक्खता पजा
परिसप्पन्ति ससो 'व बाधितो ।
सञ्ञोजनसङ्गसत्तका
दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय ॥ ९ ॥

तृष्णा के पीछे लगे प्राणी, बँधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं, संयोजनों में फँसे नर चिरकाल तक बार बार दुःख पाते हैं।

(३४३)

तसिणाय पुरक्खता पजा
परिसप्पन्ति ससो'व बाधितो ।
तस्मा तसिनं विनोदये भिक्खु
आकङ्खी विरागमत्तनो ॥१०॥

तृष्णा के पीछे लगे प्राणी, बँधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं; इसलिए अनासक्त होने की इच्छा रखनेवाला भिक्षु तृष्णा को दूर करे।

(३४४)

यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो वनमुत्तो वनमेव धावति ।
तं पुग्गलमेव पस्सथ मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥११॥

जो निर्वाणार्थी तृष्णा से मुक्त हो, अच्छी प्रकार मुक्त हो फिर तृष्णा की ही ओर दौड़ता है, उस आदमी को ऐसा जानो जैसे कोई बन्धन से मुक्त हो फिर बन्धन की ही ओर भागता है ।

(३४५)

न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा
यदायसं दारुजं बब्बजञ्च ।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु
पुत्तेसु दारेसु च या अपेखा ॥१२॥

यह जो लोहे, लकड़ी या रस्सी के बन्धन हैं, उन्हें धीर (जन) बन्धन नहीं कहते । असली बन्धन तो हैं—धन में अनुरक्ति, पुत्र तथा स्त्री में अनुरक्ति ।

(३४६)

एतं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा
ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं ।
एतम्पि छेत्वान परिब्बजन्ति
अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय ॥१३॥

इन्हीं बन्धनों को धीर (=जन) पतनोन्मुख, शिथिल और दुस्त्याज्य बन्धन कहते हैं । वे इन्हें भी छेद, अपेक्षारहित हो काम-सुख छोड़ प्रव्रजित होते हैं ।

(३४७)

ये　राग़रत्तानुपतन्ति　सोतं
　　सयं　कतं　मक्कटकोव　जालं
एतम्पि　छेत्वान　वजन्ति　धीरा
　　अनपेक्खिनो　सब्बदुक्खं　पहाय ॥१४॥

जो राग में रक्त है, वह मकड़ी के अपने बनाये जाले की तरह प्रवाह में फँस जाते हैं; धीर (जन) इसे भी छेद कर, अपेक्षा-रहित हो, सब दुःखों को छोड़ प्रव्रजित होते हैं ।

(३४८)

मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू ।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥१५॥

पूर्व, वर्तमान तथा भविष्य के सम्बन्ध को छोड़ कर संसार-सागर के पार हो जा । सब ओर से मन को मुक्त कर लेने वाला जाति-जरा को प्राप्त न होगा ।

(३४९)

वितक्कपमथितस्स　जन्तुनो
　　तिब्बरागस्स　सुभानुपस्सिनो ।
भिय्यो　तण्हा　पवड्ढति
　　एसो खो दळ्हं करोति बन्धनं ॥१६॥

जिसके मन में बहुत संकल्प-विकल्प उठते हैं, जिसके मन में तीव्र राग है, जो शुभ ही शुभ देखता है, उसकी तृष्णा बढ़ती है, वह अपने बन्धन को और भी दृढ़ करता है ।

(३५०)

वितक्कूपसमे च यो रतो
　　असुभं भावयति सदा सतो।
एस खो व्यन्तिकाहिनि
　　एस छेज्जति मारबन्धनं ॥१७॥

जो संकल्प-विकल्प को शान्त करने में लगा है, जो जागरूक रहकर सदा अशुभ को देखता है, वह मार के बन्धन को काटेगा, वही नष्ट करेगा।

(३५१)

निट्ठङ्गतो असन्तासी वीततण्हो अनङ्गणो।
उच्छिज्ज भवसल्लानि अन्तिमो'यं समुस्सयो ॥१८॥

जिसका (कार्य्य) समाप्त हो गया, जो त्रास रहित है, जो तृष्णा-रहित है, जो मल-रहित है, वही संसार रूपी शल्य को काटेगा, यह उसका अन्तिम-जन्म है।

(३५२)

वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं जञ्ञा पुब्बपरानि च।
स वे अन्तिमसारारीरो महापञ्ञो'ति वुच्चति ॥१९॥

जो तृष्णा-रहित है, जो परिग्रह-रहित है, जो भाषा और काव्य को जानता है, जो व्याकरण जानता है, वह निश्चय से अन्तिम शरीरवाला तथा महाप्राज्ञ है।

(३५३)

सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि
　　सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।

सब्बञ्ञहो तण्हक्खये विमुत्तो
सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ॥२०॥

मैंने सबको परास्त किया है, मैं सब कुछ जानता हूँ, मैं सब धर्मों (=अस्तिवों) से अलिप्त हूँ, मैं सर्वस्व त्यागी हूँ, मैंने तृष्णा का क्षय किया है, मैं विमुक्त हूँ—स्वयं ज्ञान प्राप्त करके मैं किसे (अपना) गुरु बताऊँ !

(३५४)

सब्बदानं धम्मदानं जिनाति
सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति।
सब्बं रतिं धम्मरती जिनाति
तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ॥२१॥

धर्म का दान सब दानों से बढ़कर है, धर्म-रस सब रसों से बढ़कर है, धर्म-रति सब रतियों से बढ़कर है, तृष्णा का क्षय सब दुःख-क्षयों से बढ़कर है।

(३५५)

हनन्ति भोगा दुम्मेधं नो चे पारगवेसिनो।
भोगतण्हाय दुम्मेधो हन्ति अञ्ञे'व अत्तनं ॥२२॥

भोग दुर्बुद्धि (-पुरुष) को नष्ट कर डालते हैं यदि वह पार जाने की कोशिश नहीं करता, भोग की तृष्णा में पड़कर दुर्बुद्धि पराये की भाँति अपने को मार डालता है।

(३५६)

तिणदोसानि खेत्तानि रागदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतरागेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२३॥

खेतों का दोष है तृण, मनुष्यों का दोष है राग। इसलिए वीतराग मनुष्यों को दिया गया दान महान् फल देता है।

(३५७)

तिणदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतदोसेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२४॥

खेतों का दोष है तृण, मनुष्यों का दोष है द्वेष। इसलिए द्वेषरहित मनुष्यों को दिया गया दान माहन् फल देता है।

(३५८)

तिणदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतमोहेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२५॥

खेतों का दोष है तृण, मनुष्यों का दोष है मोह। इसलिए मूढ़ता-रहित मनुष्यों को दिया दान महान् फल देता है।

(३५९)

तिणदोसानि खेत्तानि इच्छादोसा अयं पजा।
तस्मा हि विगतिच्छेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२६॥

खेतों का दोष है तृण, मनुष्यों का दोष है इच्छा करना, इसलिए इच्छा-रहित मनुष्यों को दिया गया दान महान् फल देता है।



२५—भिक्खुवग्गो

(३६०)

चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो ॥ १ ॥

आँख का संयम (करना) अच्छा है, कान का संयम अच्छा है, नाक का संयम अच्छा है, जिह्वा का संयम अच्छा है।

(३६१)

कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा, संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुखा पमुच्चति ॥ २ ॥

शरीर का संयत रहना अच्छा है, वाणी का संयत रहना अच्छा है, मन का संयत रहना अच्छा है, सब इन्द्रियों को संयत रखनेवाला भिक्षु सब दुःखों से मुक्त होता है।

(३६२)

हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो
वाचाय सञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो
अज्झत्तरतो समाहितो
एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं ॥ ३ ॥

जो हाथ, पाँव और वाणी से संयत है, जो उत्तम संयमी है, जो अपने में रत है, जो समाधियुक्त है, जो अकेला रहता है, जो सन्तुष्ट है, उसे भिक्षु कहते हैं।

(३६३)

यो मुखसञ्ञतो भिक्खु मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मञ्च दीपेति मधुरं तस्स भासितं ॥ ४ ॥

जो वाणी का संयमी है, जो मनन करके बोलता है, जो उद्धत नहीं है, जो अर्थ और धर्म को प्रकट करता है, उसका भाषण मधुर होता है।

(३६४)

धम्मारामो धम्मरतो धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु सद्धम्मा न परिहायति ॥ ५ ॥

धर्म में रमण करनेवाला, धर्म में रत, धर्म का चिन्तन करनेवाला धर्म का अनुसरण करनेवाला भिक्षु सच्चे धर्म से च्युत नहीं होता।

(३६५)

सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खु समाधिं नाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अपने लाभ की अवहेलना न करे, और न दूसरे के लाभ की स्पृहा। दूसरे के लाभ की स्पृहा करनेवाला भिक्षु चित्त की एकाग्रता को प्राप्त नहीं करता।

(३६६)

अप्पलाभोपि चे भिक्खु सलाभं नातिमञ्ञति।
तं वे देवा पसंसन्ति सुद्धाजीविं अतन्दितं ॥ ७ ॥

चाहे लाभ थोड़ा ही हो, यदि भिक्षु अपने लाभ की अवहेलना नहीं करता, तो उस शुद्ध-आजीविका वाले आलस्य-रहित भिक्षु की देवता प्रशंसा करते हैं।

(३६७)

सब्बसो नामरूपस्मिं यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति स वे भिक्खू'ति वुच्चति ॥८॥

सारे जगत् (=नाम-रूप) में जिसका कुछ भी "मेरा" नहीं है, जो (किसी वस्तु के) न रहने पर शोक नहीं करता, वही भिक्षु कहलाता है।

(३६८)

मेत्ताविहारी यो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं ॥ ९ ॥

मैत्री (-भावना) से विहार करता हुआ, जो भिक्षु बुद्ध के उपदेश में श्रद्धावान है, वह सभी संस्कारों के शमन, सुखस्वरूप शान्त-पद को प्राप्त करता है।

(३६९)

सिञ्च भिक्खु ! इमं नावं सित्ता ते लहुमेस्सति।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बाणमेहिसि ॥१०॥

भिक्षु, इस नावको उलीच। उलीचने से यह नाव तुम्हारे (लिए) हलकी हो जाएगी। राग और द्वेष को छेद कर तुम निर्वाण प्राप्त करोगे।

(३७०)

पंच छिन्दे पञ्च जहे पञ्चुत्तरि भावये।
पञ्च सङ्गातिगो भिक्खु ओघतिण्णो'ति वुच्चति ॥११॥

जो पाँच को छेदे, पाँच को छोड़े, पाँच की भावना करे और पाँच के संसर्ग को लाँघ जाए, वह भिक्षु 'बाढ़ से उत्तीर्ण' कहा जाता है।

(३७१)

झाय भिक्खु! मा च पामदो
मा ते कामगुणे भमस्सु चित्तं।
मा लोहगुलं गिली पमत्तो
मा कन्दि दुक्खमिदन्ति डय्हमानो ॥१२॥

भिक्षु, ध्यान कर, प्रमाद मत कर। (देख,) तेरा चित्त भोगों के चक्कर में न फँसे। प्रमत्त होकर लोहे के गोले को न निगल। "यह दुःख है" जलते हुए चिल्लाकर तुझे रोना न पड़े।

(३७२)

नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बाण सन्तिके ॥१३॥

जिसको प्रज्ञा नहीं, उसका चित्त एकाग्र नहीं होता, जिसका चित्त एकाग्र नहीं, वह प्रज्ञावान् नहीं हो सकता। जिसमें ध्यान और प्रज्ञा दोनों हैं, वही निर्वाण के पास है।

(३७३)

सुञ्ञागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्खुना।
अमानुसी रती होति सम्माधम्मं विपस्सतो ॥१४॥

एकान्त गृह में रहनेवाले, शान्त-चित्त, सम्यक् धर्म को जाननेवाले भिक्षु को लोकोत्तर आनन्द मिलता है।

(३७४)

यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं।
लभती पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं ॥१५॥

मनुष्य जैसे जैसे स्कंधों की उत्पत्ति और विनाश को देखता है, वैसे वैसे वह ज्ञानियों की प्रीति और प्रसन्नता रूपी अमृत को प्राप्त करता है।

(३७५)

तत्रायमादि भवति इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ति सन्तुट्ठि पातिमोक्खे च संवरो।
मित्ते भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते ॥१६॥

बुद्धिमान् भिक्षु को पहले यह करना होता है—इन्द्रिय-संयम, सन्तोष और भिक्षु-नियमों का पालन। (उसे चाहिये कि) वह शुद्ध आजीविकावाले, आलस्य-रहित कल्याण-मित्रों की संगति करे।

(३७६)

पटिसन्थारवुत्तस्स आचारकुसलो सिया।
ततो पामोज्जबहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्ससि ॥१७॥

सेवा-सत्कार करनेवाला होवे। आचारवान् बने। उससे आनन्दित होकर दुःख का अन्त करनेवाला बनेगा।

(३७७)

वस्सिका विय पुप्फानि मद्दवानि पमुञ्चति।
एवं रागञ्च दोसञ्च विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो ॥१८॥

जैसे जूही (अपने) कुम्हलाये-फूलों को गिरा देती है, उसी प्रकार भिक्षुओ, तुम राग और द्वेष को छोड़ दो।

(३७८)

सन्तकायो सन्तवाचो सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खु उपसन्तोति वुच्चति ॥१९॥

जिसका शरीर शान्त है, जिसकी वाणी शान्त है, जिसका (मन) शान्त है, जो समाधि-युक्त है, जिसने लौकिक भोगों को छोड़ दिया है, वह भिक्षु उपशान्त कहलाता है।

(३७९)

अत्तना चोदयत्तानं पटिमासे अत्तमत्तना।
सो अत्तगुत्तो सतिमा सुखं भिक्खु विहाहिसि ॥२०॥

जो स्वयं अपने आपको प्रेरित करेगा, जो स्वयं अपनी परीक्षा करेगा, वह आत्म-संयमी, स्मृतिमान् भिक्षु सुखपूर्वक रहेगा।

(३८०)

अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा सञ्ञमयत्तानं अस्सं भद्रं, व वाणिजो ॥२१॥

(आदमी) अपना स्वामी आप है, अपनी गति आप है, इसलिए अपने आपको उसी तरह संयत रक्खे, जैसे व्यापारी अच्छे घोड़े को।

(३८१)

पामोज्जबहुलो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं ॥२२॥

जो भिक्षु खूब प्रसन्न-चित्त है, जो बुद्ध के उपदेश में श्रद्धावान् है, वह सभी संस्कारों के शमन, सुखस्वरूप शान्त-पद को प्राप्त करता है।

(३८२)

यो हवे दहरो भिक्खु युञ्जते बुद्धासासने।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तोव चन्दिमा ॥२३॥

जो भिक्षु तरुणाई में बुद्ध-शासन में संलग्न होता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भांति लोक को प्रकाशित करता है।

———

२६—ब्राह्मणवग्गो

(३८३)

छिन्द सोतं परक्कम कामे पनुद ब्राह्मण।
संखारानं खयं ञत्वा अकतञ्ञूसि ब्राह्मण ॥ १ ॥

हे ब्राह्मण, (तृष्णा) स्रोत को छिन्न कर दे, पराक्रम कर, कामनाओं को भगा। हे ब्राह्मण! संस्कारों के क्षय को जानकर तू अकृत (=निर्वाण) का जानकार हो जा।

(३८४)

यदा द्वयेसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो।
अथस्स सब्बे संयोगा अत्थं गच्छन्ति जानतो ॥ २ ॥

जब ब्राह्मण चित्त-संयम और भावना, इन दो बातों में पारंगत हो जाता है, तब उस ज्ञानी के सभी बन्धन कट जाते हैं।

(३८५)

यस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति।
वीतद्दरं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

जिसका पार, अपार और पारापार नहीं है, जो निर्भय और अनासक्त है, उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

(३८६)

झायिं विरजमासीनं कतकिच्चं अनासवं।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ४ ॥

जो ध्यानी है, जो निर्मल है, जो एकान्त-सेवी है, कृतकृत्य है, जो आस्रव-रहित है, जिसने उत्तम-अर्थ को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(३८७)

दिवा तपति आदिच्चो रत्तिं आभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति झायी तपति ब्राह्मणो।
अथ सब्बमहोरत्तं बुद्धो तपति तेजसा ॥ ५ ॥

दिन में सूर्य चमकता है, रात को चन्द्रमा चमकता है, कवचबद्ध (होने पर) क्षत्रिय चमकता है, ध्यानी (होने पर) ब्राह्मण चमकता है, लेकिन बुद्ध अपने तेज से सदैव दिन-रात चमकते हैं।

(३८८)

बाहितपापोति ब्राह्मणो समचरिया समणोति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बजितोति वुच्चति ॥ ६ ॥

जिसने पापों को बहा दिया है, वह ब्राह्मण है, जिसकी चर्य्या ठीक (=सम) है, वह श्रमण है; जिसने अपने (चित्त-) मलों को हटा दिया वह प्रव्रजित कहलाता है।

(३८९)

न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
धि ब्राह्मणस्स हन्तारं ततो धि यस्स मुञ्चति ॥ ७ ॥

ब्राह्मण पर प्रहार न करे; (ब्राह्मण को चाहिये कि) प्रहारकर्त्ता पर कोप न करे। ब्राह्मण पर प्रकार करनेवाले को धिक्कार है, लेकिन उससे अधिक धिक्कार है उस ब्राह्मण को जो प्रहार-कर्ता पर कोप करे।

(३९०)

न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो
यदा निसेधो मनसो पियेहि ।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति
ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं ॥ ८ ॥

ब्राह्मण के लिए यह बात कम कल्याणकारी नहीं, जो वह प्रिय (वस्तुओं) से मन को हटा लेता है; जहाँ जहाँ मन हिंसा से विमुख होता है, वहाँ दुःख शान्त होता ही है ।

(३९१)

यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं ।
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ९ ॥

जिसके शरीर, वाणी तथा मन से कोई पाप नहीं होता, जो इन तीनों स्थानों में संयत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(३९२)

यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासम्बुद्धदेसितं ।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य अग्गिहुत्तंव ब्राह्मणो ॥१०॥

जिस उपदेशक से बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म जाने, उसे वैसे ही नमस्कार करे, जैसे ब्राह्मण अग्नि-होत्र को ।

(३९३)

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥११॥

न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ब्राह्मण होता है; जिसमें सत्य और धर्म है, वही व्यक्ति पवित्र है और वही ब्राह्मण है ।

(३९४)

किं ते जटाहि दुम्मेध ! किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहणं बाहिरं परिमज्जसि ॥ १२ ॥

हे दुर्बुद्धि ! जटाओं से तुझे क्या (लाभ ?) और मृग-चर्म के पहनने से क्या ? अन्दर से तो तू मैला है, बाहर से धोता है।

(३९५)

पंसुकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मिं झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१३॥

जो फटे-पुराने वस्त्रों को धारण करता है, जो पतला दुबला है, जिसकी नसें दिखाई देती हैं, जो वन में अकेला ध्यान करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(३९६)

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं।
'भो वादी' नाम सो होति स चे होति सकिञ्चनो।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१४॥

मैं ब्राह्मणी-माता से पैदा होने के कारण किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। यदि वह सम्पन्न होता है तो उसे 'भो' से सम्बोधन किया जाता है। जिसके पास कुछ नहीं है, और जो कुछ नहीं लेता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(३९७)

सब्बसञ्ञोजनं छेत्वा यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१५॥

जो सब बन्धनों को काटता है, जो निर्भय है, जो संग और आसक्ति से रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(३९८)

छेत्वा नद्धिं वरतञ्च सन्दामं सहनुक्कमं ।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१६॥

नद्धि, रस्सी, पगहे, और मुँह पर बाँधने के जाले को काट, जुये को फेंक जो बुद्ध हुआ, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(३९९)

अक्कोसं वधबन्धञ्च अदुट्ठो यो तितिक्खति ।
खन्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१७॥

गाली, बध और बन्धन को जो बिना चित्त को दूषित किए सहन करता है, क्षमा-बल ही जिसकी सेना का सेना-पति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४००)

अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुस्सदं ।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१८॥

जो अक्रोधी है, जो व्रती है, जो सदाचारी है, जो तृष्णा-रहित,है, जो संयमी है, जो अन्तिम शरीरधारी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४०१)

वारि पोक्खरपत्तेव आरग्गेरिव सासपो
यो न लिम्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१९॥

कमल के पत्ते पर पानी की बूँद और आरे की नोक पर सरसों के दाने की भाँति जो काम-भोगों में अलिप्त रहता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४०२)

यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो।
पन्नभारं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२०॥

जो इसी जन्म में अपने दुःख के क्षय को जानता है, जिसने अपना भार उतार दिया है, जो आसक्ति-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४०३)

गम्भीरपञ्ञं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२१॥

जो गम्भीर प्रज्ञावाला है, जो मेधावी है, जो मार्ग-अमार्ग को पहचानता है, जिसने उत्तम-अर्थ को प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४०४)

असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागरेहि चूभयं।
अनोकसारिं अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२२॥

जो गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों से अलिप्त रहता है, जो इच्छा-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४०५)

निधाय दण्डं भूतेसु तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२३॥

जो चर-अचर सभी प्राणियों की हिंसा से विरत हो, न किसी को मारता है, न मारने की प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

(४०६)

अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदण्डेसु निब्बुतं।
सादानेसु अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२४॥

जो विरोधियों में अविरोधी, जो दण्ड - धारियों में दण्ड-त्यागी, जो संग्रह करनेवालों में असंग्रही है; उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४०७)

यस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो ।
सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२५॥

जिस (के चित्त) से राग, द्वेष मान और डाह ऐसे ही गिर पड़े हैं जैसे आरे के ऊपर से सरसों के दाने, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४०८)

अकक्कसं विञ्ञापनिं गिरं सच्चं उदीरये ।
याय नाभिसजे कञ्चि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२६॥

जो अकर्कश, विषय को स्पष्ट करनेवाली तथा सच्ची वाणी बोलता है, जिससे किसी को पीड़ा नहीं पहुँचती, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४०९)

योध दीघं वा रस्सं वा अणुं थूलं सुभासुभं ।
लोके अदिन्नं नादियति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२७॥

चाहे लम्बी हो चाहे छोटी, चाहे मोटी हो चाहे पतली, चाहे अच्छी हो चाहे बुरी, जो संसार में किसी भी चीज़ की चोरी नहीं करता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४१०)

आसा यस्स न विज्जन्ति अस्मिं लोके परम्हि च ।
निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२८॥

इस लोक और परलोक की (किसी चीज़ में) जिसकी इच्छा नहीं है, जो इच्छा-रहित है, जो आसक्ति-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४११)

यस्सालया न विज्जन्ति अञ्ञाय अकथंकथी।
अमतोगधं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२६॥

जो आसक्ति-रहित है, जो जानकार होने से संशय-रहित है, जिसने गाढ़े अमृत को पा लिया है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४१२)

योध पुञ्ञञ्च पापञ्च उभो सङ्गं उपच्चगा।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३०॥

जो इस संसार में पुण्य और पाप दोनों से परे है, जो शोक-रहित है, जो निर्मल है, जो शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४१३)

चन्दंव विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३१॥

जो चन्द्रमा की भाँति विमल, शुद्ध और स्वच्छ है, जिसके भव-तृष्णा नष्ट हो गई है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४१४)

यो इमं पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारगतो झायी अनेजो अकथंकथी।
अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३२॥

जिसने इस दुर्गम संसार (जन्म-मरण) के चक्कर में डालनेवाले मोह-स्वरुप उलटे मार्ग को त्याग दिया, जो तीर्ण हो गया, जो पार कर गया, जो ध्यानी है, जो स्थिर है, जो संशय-रहित है, जिसने उपादान रहित निर्वाण को प्राप्त कर लिया, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४१५)

योध कामे पहत्वान अनागारो परिब्बजे।
कामभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राम्हणं ॥३३॥

जो काम भोगों को छोड़ बेघर हो प्रव्रजित हो गया है, जिसका काम-भव नष्ट हो गया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४१६)

योध तण्हं पहत्वान अनागारो परिब्बजे।
तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३४॥

जो तृष्णा को छोड़ बेघर हो प्रव्रजित हो गया है, जिसका तृष्णा-भव नष्ट हो गया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४१७)

हित्वा मानुसकं योगं दिब्बं योगं उपच्चगा।
सब्बयोगविसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३५॥

जिसने मानुषी-भोगों को छोड़ दिया, दिव्य-भोगों को भी छोड़ दिया, जो सभी भोगों के प्रति अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४१८)

हित्वा रतिञ्च अरतिञ्च सीतीभूतं निरूपधिं।
सब्बलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥

जिसने रति और अरति को छोड़ दिया, जो शान्त हो गया, जो क्लेश-रहित है, जिस वीर ने सारे लोक को जीत लिया, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

(४१९)

चुतिं यो वेदि सत्तानं उपपत्तिञ्च सब्बसो।
असत्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३७॥

जो प्राणियों की मृत्यु तथा उत्पत्ति को भले प्रकार जानता है, जो आसक्ति-रहित सुगति-प्राप्त बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४२०)

यस्स गतिं न जानन्ति देवा गन्धब्बमानुसा ।
खीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३८॥

जिसकी गति को न देवता जानते हैं, न गन्धर्व और न मनुष्य, जो क्षीण-आस्रव है, जो अर्हत् है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४२१)

यस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किञ्चनं ।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३९॥

जिसकी अतीत, वर्तमान या भविष्य में कहीं कुछ आसक्ति नहीं है, जो परिग्रह-रहित, आदान-रहित है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४२२)

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४०॥

जो श्रेष्ठ है, जो प्रवर है, जो वीर है, जो महर्षि है, जो विजेता है, जो स्थिर है, जो स्नातक है, जो बुद्ध है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

(४२३)

पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापायञ्च पस्सति ।
अथो जातिक्खयं पत्तो अभिञ्ञावोसितो मुनि ।
सब्बवोसितवोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४१॥

जो जन्म को जानता है, जो स्वर्ग और नरक को देखता है, जिसका (पुनः) जन्म क्षीण हो गया, जो अभिज्ञावान् है, जिसने निर्वाण प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

———

गाथा-सूची



शब्द सूची

पृ० १. धर्म—बुद्ध के उपदेश में धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ धर्म शब्द से वेदना, संज्ञा तथा संस्कार इन तीन अरूप-स्कन्धों का ग्रहण है।

पृ० ३. सुभाभावना—काम-भोगों को ही सब कुछ समझने की चेतना।

पृ० ३. असुभाभावना—शरीर की गन्दगी का ध्यान, जिससे काम-भोगमय जीवन से अरुचि हो। इस ध्यान के दस प्रकार हैं।

पृ० ३ मार—इन्द्र से ऊपर और ब्रह्मा से नीचे का देवता, जिसे वैदिक साहित्य में प्रजापति कहते हैं। (२) राग, द्वेष, मोह आदि मन की दुर्वृत्तियाँ, जो सत्य के मार्ग में बाधक होती हैं, उन्हें ही रूपक करके मार नाम का एक देवता माना गया है।

पृ० ८. आर्य—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा अर्हत (=जीवन्मुक्त)।

पृ० १४. शैक्ष—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी पद प्राप्त व्यक्ति को, जो अभी अर्हत नहीं हुआ शैक्ष कहते हैं, क्योंकि वह अभी शिक्षणीय है।

पृ० २५. सम्बोधि अङ्ग—स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य (=उद्योग), प्रीति, प्रश्रब्धि (=शान्ति), समाधि तथा उपेक्षा।

पृ० २७. आश्रव—(=मल) [१] कामाश्रव (=काम भोग-सम्बन्धी इच्छा), भवाश्रव (=भिन्न-भिन्न लोकों मे जन्म लेने की इच्छा), दृष्टयाश्रव (=गलत धारणा), तथा अविद्याश्रव।

पृ० ५० स्रोतापन्न—आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर आरूढ़ व्यक्ति जिसका अपने लक्ष्य तक पहुँचना निश्चित है।

पृ० ५१. अपद—रागादि से मुक्त।

पृ० ७५. तथागत—बुद्ध = तथा-गत वा तथा-आगत।

पृ० ७६. आर्य-सत्य—दुःख, दुःख समुदय, दुःखनिरोध तथा दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा।

पृ० ७६. चक्षुमान—पाँच प्रकार के ज्ञान (=चक्षु) से युक्त।

पृ० ७६. अष्टांगिक मार्ग—[१] सम्यक् दृष्टि [२] समयक् संकल्प, [३] सम्यक् वाणी, [४] सम्यक् कर्मान्त, [५] सम्यक् आजीविका, [६] सम्यक् व्यायाम, [७] सम्यक् स्मृति, [८] सम्यक् समाधि।

पृ० ७९. सुगत—सम्यक् गमन वा सम्यक् गति वाले=बुद्ध।

पृ० ८२. कायानुस्मृति—शरीर और शारीरिक कर्मों के प्रति जागरूकता।

पृ० ८२. आत्म-दृष्टि—शरीर और मन के परे 'आत्मा' नाम की किसी नित्य-सत्ता को मानना।

पृ० ८२. उच्छेद-दृष्टि—मरण पर्य्यन्त और जन्म से पूर्व किसी प्रकार के अस्तित्व को न मानना।

पृ० ८२. पाँच उपादान स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान।

पृ० ८२. पाँच आवरण—पाँच नीवरण [१] कामेच्छा, [२] व्यापाद, [३] स्त्यानमृद्ध, [४] औद्धत्य-कौकृत्य, [५] विचिकित्सा।

पृ० ९३. वीरण—अमर-बेल।

पृ० ९४. छत्तीसस्रोत—चक्षु, स्रोत्र आदि १८ अन्दरूनी तथा रूप, शब्द आदि १८ बाहरी—कुल ३६ स्रोत।

पृ० ६६. **धर्म**—काम-लोक, रूप-लोक तथा अरूप-लोक करके त्रिभूमिक धर्म।

पृ० १०३. **पाँच को छेदे**--[१] सत्काय दृष्टि, [२] विचिकित्सा = सन्देह, [३] शीलव्रत-परामर्श, [४] काम-राग, [५] रूप-राग।

पृ० १०३. **पाँच को छोड़े**—[१ अरूप-राग, [२] प्रतिघ, [३] मान, [४] औद्धत्य, [५] अविद्या।

पृ० १०३. **पाँच की भावना करे**—श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियाँ।

पृ० १०३. **पाँच को लाँघ जाय**—[१] राग, [२] द्वेष, [३] मोह, [४] मान, [५] दृष्टि।

पृ० ११६. **कामभव**—[१] वस्तु काम (=वस्तुओं की कामना, [२] क्लेश-काम (चित्त की असद्वृत्तियों को सन्तुष्ट करने की कामना)

पृ० ११६. **तृष्णाभव**—छः इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा।



